णमो सिद्धाण

ज्ञाता-धर्म-कथा

का

हिन्दी अनुवाद

अनुवादक—

जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज के सुशिष्य अनेक ग्रन्थों के लेखक साहित्यरत्न गणिवर्य पण्डित मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज।

प्रकाशक —

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम (मालवा)

प्रथमावृत्ति } मूल्य

... अपरिमित वैभव ... धनधान्य से परिपूर्ण थी। वहां के निवासी नर नारी बड़े पवित्रहृदय थे। महाराजा श्रेणिक इस नगरी के राजा थे। श्रेणिक न्याय-

卐

श्री ज्ञातासूत्रम्

प्रथम अध्याय

लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। भारतवर्ष में, दक्षिण की ओर, राजगृही नामक सुन्दर और विशाल नगरी थी। उस समय यह नगरी अपरिमित वैभव और धनधान्य से परिपूर्ण थी। वहा के निवासी नर-नारी बडे पवित्रहृदय थे। महाराजा श्रेणिक इस नगरी के राजा थे। श्रेणिक न्याय

शील और पिता की तरह प्रजा के परिपालक थे। वह न्यायोपात्त धन का सञ्चय करते हुए अपने जीवन को धर्म में लगाते और गृहस्थ के कर्त्तव्यों का सावधानी के साथ पालन करते थे। उनके राज्य में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न था।

महाराजा का एक अत्यन्त प्रिय पुत्र था। उसका नाम अभयकुमार था। अभयकुमार राजनीति में निपुण था। उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। प्रत्येक महत्वपूर्ण राजकार्य में उसकी सम्मति ली जाती थी और उसकी सम्मति सदा नीतियुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण होती थी। अभयकुमार के मंत्रित्व में राज्य पूर्ण उन्नति पर था और प्रजा भी सुखी एवं संतुष्ट थी।

महाराज के धारिणी नामक एक रानी थी। वह रानी बड़ी पतिव्रता और पतिपरायणा थी। वह मन से पति की सेवा में संलग्न रहती थी। राजा-रानी का पारस्परिक व्यवहार एक आदर्श दम्पति के योग्य व्यवहार था।

एक रात्रि को महारानी अपनी शय्या पर सुखपूर्वक शयन कर रही थी। रात्रि का अन्तिम समय था। इसी समय स्वप्न में उसने देखा कि एक सुन्दर श्वेतवर्ण हाथी उसके मुँह में प्रवेश कर रहा है। इसी समय भेरी के श्रुतिमधुर

नाद ने उसकी निद्रा भग कर दी । स्वप्न-दर्शन से रानी के मन में एक नवीन कौतूहल उत्पन्न हुआ । वह स्वप्न के शुभाशुभ फल को जानने की इच्छा से प्रसन्नतापूर्वक उठी और जहा महाराज श्रेणिक शयन कर रहे थे वहा पहुँची । महाराज के निकट जा उसने विनयपूर्ण, नम्र और मधुर शब्दों से उन्हे सबोधित किया महाराज ने सजग होकर रानी की ओर प्रसन्नतापूर्वक देखा ।

कथा से स्पष्ट है कि पूर्व समय म पति-पत्नी पृथक् शय्या पर शयन करते थे । उन्हें यह भली भॉति मालूम था कि एक ही शय्या पर सोने से रात भर कुत्सित काम भावना जाग्रत होती रहती है, जिससे शारीरिक और मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है । आजकल के वैज्ञानिक भी इसी मत का समर्थन करते है ।

प्रात काल हुआ । मागलिक भेरी की ध्वनि से राजमदिर गूज उठा । महाराज श्रेणिक अपनी सेज से उठे । शारीरिक कृत्यों से निवृत्त हो व्यायामशाला की ओर गए । व्यायामशाला अच्छे-अच्छे शूरवीरों के चित्रों से सजी हुई थी और व्यायाम के उपकरण यथास्थान रखे हुए थे । महाराज ने व्यायाम करके सारे शरीर में तैल मर्दन किया । तैल-मर्दन से उनका समस्त शरीर अद्वितीय आभा से चमकने लगा ।

नाया है। कई लोग तो पैदल चलना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। दुकान मे शाक लाने के लिए भी उन्हें सवारी की आवश्यकता होती है। यही हाल महिला-समाज का है। वे भी प्राय सभी काम नौकरों के मत्थे मढ़कर आप आलस्यमय जीवन बिता रही हैं। इस आलस्य ने नर नारियों को दुर्बल रुग्ण और पराधीन बना दिया है। यही नहीं निठल्ले बैठ रहने से मानसिक विकार भी अधिक परिमाण में उत्पन्न होते हैं और इससे नैतिक और धार्मिक पतन भी अधिक होता है। अपने हाथों कार्य करने से यतना रखी जा सकती है और शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता भी प्राप्त की जा सकती है। अतएव प्रत्येक नर नारी का यह कर्त्तव्य है कि वे गृहस्थी के निजी काम स्वयं ही यतना के साथ करें और व्यायाम को दैनिक कार्यों में शामिल कर लें। शरीरशास्त्रियों का ऐसा ही मत है और इसीलिए शास्त्रों में व्यायाम का जहाँ देखो वहीं वर्णन पाया जाता है। अस्तु।

व्यायाम के पश्चात् महाराज श्रेणिक ने शुद्ध जल से स्नान किया और शरीर पर सुगंधित द्रव्यों से विलेपन किया। फिर राजोचित उत्तम वस्त्र धारण कर छत्र चामर आदि वैभव के साथ राज-सभा की ओर प्रस्थान किया।

राजसभा का स्थान उच्च और विशाल था। दीवारों पर चतुर चित्रकारों द्वारा अंकित बहुमूल्य और मनोरम चित्र अंकित थे। सभा के बीच बीच में विशाल स्तंभ थे जो सुवर्ण और मणियों से जड़े हुए थे। बीच में मनोहर सिंहासन था जो मूल्यवान हीरों के प्रकाश से जगमगा रहा था। सिंहासन के पास में मंत्रियों और सभासदों के बैठने योग्य सुन्दर आसन लगे हुए थे। सभासद अपने अपने आसनों पर बैठे हुए थे। सामन्त लोग शस्त्रों से सज्जित होकर अपने योग्य स्थानों पर खड़े हुए थे।

इसी समय चारणों के जय जय नाद के साथ महाराज ने सभा भवन में प्रवेश किया। सभासदों और सामन्तों ने यथोचित अभिवादन किया और वह राज सिंहासन पर विराजमान हुए।

रात्रि में देखे हुए स्वप्न के विशेष फल को जानने की इच्छा से महारानी भी राजसभा की ओर पधारीं। महारानी को आती देख महाराज श्रेणिक ने उनका यथोचित सत्कार किया और उन्हें मंच के अन्दर आसन पर बैठने की आज्ञा दी। इसी समय बुलाये हुए समस्त प्रकार के स्वप्नों का फल जानने वाले स्वप्नशास्त्री, ज्योतिषी आ गये। महाराज ने उन विद्वानों का यथायोग्य

किया और योग्य आसनों पर बैठने की आज्ञा प्रदान की। तदनन्तर हाथों में पुष्प फल लेकर विनय के साथ रात में देखे हुए स्वप्न का फल पूछा। ज्योतिष विद्या के पारगामी वे ज्योतिषी विद्वान् बोले—महाराज, ज्योतिष शास्त्र में ७२ स्वप्न हैं। उन में से ४२ सामान्य और ३० अति श्रेष्ठ हैं। जब तीर्थंकर और चक्रवर्ती गर्भ में आते हैं तब उनकी माता उन श्रेष्ठ स्वप्नों में से १४ स्वप्न देखती है। इसी प्रकार वासुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और माण्डलिक राजा की माता एक स्वप्न देखती है।

महारानी ने उक्त चौदह स्वप्नों में से एक हाथी का स्वप्न देखा है। इसके फलस्वरूप राज्य की वृद्धि होगी। हृदय सुख और आनन्द से परिपूर्ण होगा। नौ मास व्यतीत होने पर महारानी के गर्भ से महाभाग्यशाली एवं प्रतिभावान् सुपुत्र का जन्म होगा। वह बालक यथासमय विस्तृत सीमा पर राज्य करने वाला होकर क्रमशः उत्कृष्ट अनगार बनकर अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनाएगा।

ज्योतिषियों के मुख से इस प्रकार का श्रेष्ठ फल सुनकर महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और यथोचित पारितोषिक देकर उन्हें विदा किया।

महारानी भी स्वप्न के शुभ फल को सुनकर संतोष

और आनन्द के साथ राजभवन में चली गई और हर्ष में परमोच्च भावनाएँ रखती हुई गर्भ का प्रतिपालन करने लगी।

समाज के दुर्भाग्य से आजकल कुछ लोग गर्भ प्रतिपालन को भी पाप समझने का पाप कर रहे हैं। की इस धारणा में कितना अविवेक है कितनी निर्दयता कितनी हिंसा भरी हुई है यह कहने की आवश्यकता न इस प्रकार की मान्यताएँ मनुष्य के हृदय में रहने कोमल और कल्याणकर वृत्तियों को नष्ट कर मनुष्य क्रूर और कठोर बनाती हैं। वस्तुतः यह मान्यता जो मानव हृदय के प्रतिकूल और धर्म के मूल को उन्मूलन करने वाली है। अस्तु।

क्रमशः महारानी के गर्भ के दो मास व्यतीत हो तीसरे महीने में उनके हृदय में दोहद उत्पन्न हुआ। इच्छा हुई—इस समय (वर्षा काल न होने पर भी) आकाश सघन घन घटाओं से आच्छादित हो जाय बिजलियाँ चमकने लगें, मेघ की गर्जना से दसों दिशाएँ व्याप्त हो जायँ, इन्द्रधनुष आकाश की अनुपम शोभा बढ़ाने लगे, मन्द मन्द पवन चलने लगे, मृदु फुहारें पड़ रही हों पृथिवी पर हरियाली की मखमली चादर बिछी हो।

नि समय म, म अपन प्राणनाथ के साथ हाथी पर
ढ़ होकर समस्त सेना सहित वैभार गिरि के समीप
ण करूँ। किन्तु वर्षा ऋतु न थी, अतएव महारानी की
कामना सफल न हो सकी। इसका प्रभाव यह हुआ
उनका शरीर धीरे-धीरे शिथिल और निर्बल पड़ने लगा।
में रहने वाली एक दासी ने महारानी के चिन्तित रहने
सूचना महाराज को दी। यह सूचना पाकर महाराज को
खेद हुआ। वे उसी समय महारानी के महल की ओर
गमन करने के लिए प्रस्तुत हुए।

वास्तव म पति का यही कर्तव्य है कि वह अपनी
पत्नी को सहधर्मिणी और अर्धाङ्गना समझे। उसकी समस्त
चिन्ताओं को दूर करना, रोग और वेदना का यथोचित
उपाय करना, यथाशक्ति शुश्रूषा करना, हृदय को सान्त्वना
देकर सब प्रकार से उसकी सहायता करना, पति का परम
कर्तव्य है। पति और पत्नी का अटूट और आजीवन सम्बन्ध
होता है। एक का जीवन दूसरे पर निर्भर रहता है। अत
पति को चाहिए कि वह पत्नी म यदि कुछ न्यूनताएँ देखे
तो भी झुंझला न उठे, घबरा न जाए, बल्कि शान्ति के
साथ उसकी कमजोरियों को दूर करके अनुरूप सहचरी
बना ले। उसे आदर की दृष्टि से देखे। उसको आवश्यक-

ताओं की यथासम्भव पूर्ति करे। मन संतुष्ट और प्रसन्न रखे। पति, पत्नी से जैसे स्नेहमय व्यवहार की आशा रखता है वैसा ही व्यवहार वह पत्नी के साथ करे। अपने-अपने विभाग में एक-दूसरे के सहायक बनें, बाधा न पहुँचाएं। जहां स्त्रियों की प्रतिष्ठा होती है वहां देवता-दिव्य पुरुष लोकोत्तर सन्तान, रमण करती है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' इस वाक्य का यही सुन्दर अभिप्राय है।

खेद है कि आर्यावर्त की परमोत्कृष्ट दाम्पत्य व्यवस्था आज शिथिल हो गई है। स्त्रियों के प्रति आज पुरुष वर्ग की जो थोथी भावना है उसे निरी अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता है, उसने कौटुम्बिक सुख और शान्ति का अन्त कर दिया है। आज स्त्री केवल विषय वासना की पूर्ति का सुलभ से सुलभ साधन समझी जाती है। घर का काम-काज करने के लिए उसे दासी माना जाता है। उसके साथ अपमान और तिरस्कार का व्यवहार किया जाता है। दुर्भाग्य से यदि स्त्रियाँ कभी रोग का शिकार बन जाती हैं या किसी प्रकार की मनोवेदना से व्याप्त हो जाती हैं तो उन्हें पति एवं सास आदि से सान्त्वना मिलने के बदले फटकार मिलती है। उन्हें ताने सुनने पड़ते हैं और इस प्रकार उनके कष्ट को चौगुना बढ़ा दिया जाता है। मेरा

और सहानुभूति तो दूर रही, यथोचित औषधि तक उन्हें नसीब नहीं होती। इस दुर्व्यवहार के कारण वर्तमान में बड़ी भीषण समस्या उठ खड़ी हुई है। समाज में उथल पुथल मच गई है। पहले पति-पत्नी दोनों एक थे, दोनों के अधिकार एक थे, पर पुरुष-जाति की स्वार्थपरता ने उन्हें अलहदा कर दिया है। आज स्त्रियां अपने अलग अधिकारों की मांग कर रही हैं। पुरुष वर्ग यदि शीघ्र चेत जाय और प्राचीन काल की भांति स्त्रियों को अपनी अर्धांगिनी समझने लगे, उनके सुख दुख का साथी और सखा बन जाय तो अब भी बहुत अंशों में आर्य संस्कृति की रक्षा हो सकती है। वास्तव में जो कन्या अपने प्राणप्रिय माता पिता का परित्याग कर पति और सुसराल को अपना आश्रय बनाती है, पति के चरणों पर हंसते-हंसते अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है, जो पति के सुख-दुख को अपना ही सुख दुख मानती है, स्वयं मुसीबतें झेलकर पति को सुख पहुंचाने में कुछ उठा नहीं रखती, उसके दुख-दर्द में काम न आना पति का बड़ा से बड़ा विश्वासघात है। पति को समझना चाहिये कि वह यदि पति है तो वह भी 'पत्नी' है, वह 'स्वामी' है तो वह 'स्वामिनी' है, वह वल्लभ है तो वह भी 'वल्लभा' है। यदि पुरुष, स्त्री को दासी समझेगा तो उसे स्वयं दास बनना होगा, जूती समझेगा तो उसे भी जूता बनना पड़ेगा। अस्तु।

महाराज श्रेणिक महारानी का आदर करते थे। वे उसी समय महारानी के पास आये और मधुर शब्दों से संबोधन कर के कहने लगे "प्रिये! तुम्हारा यह मनोहर मुख-मण्डल क्यों मलिन और छवि हीन हो रहा है? बताओ, शीघ्र बताओ किस चिन्ता ने तुम्हारे हृदय में अपना स्थान बनाया है? मैं तुम्हारी सभी चिन्ताओं को दूर करूँगा।"

महाराज के इन मधुर वचनों को सुनकर महारानी ने कुछ उत्तर न दिया तब महाराज फिर कहने लगे "वल्लभे, चुप क्यों हो? अपने हृदय की वेदना कहो। पति से कोई बात गुप्त न रखनी चाहिए।" तब महारानी ने कहा—"नाथ, मुझे बड़ी विचित्र साध हुई है। मैं चाहती हूँ—इस समय वर्षा ऋतु के दृश्य दिखाई देने लगें और मैं आपके साथ हाथी पर बैठकर वैभारगिरि के समीप भ्रमण करूँ। मेरी यह साध किस प्रकार सधेगी, इसी बात की चिन्ता है।"

महारानी की साध सुनकर महाराजा श्रेणिक ने उन्हें सान्त्वना दी। कहा—"प्रिये, चिन्ता न करो। शीघ्र ही मैं तुम्हारी सब अभिलाषा पूर्ण करूँगा।"

महारानी की चिन्ता तो दूर हो गई, पर महाराज राज-सभा में जाकर, सिंहासन पर विराजमान होकर गहरे सोच-

विचार में पड गये। उनकी समझ में नहीं आता था कि यह समस्या कैसे हल की जाय?

इसी समय महाराज के स्वनाम धन्य पुत्र अभयकुमार ने राजसभा में प्रवेश किया। वे महाराज के चरण स्पर्श कर एक ओर खडे हो गये। अभयकुमार ने देखा—जब मैं पिताजी के समीप आता था तो वे मुझे दुलारते थे, समीप बिठलाते थे। आज क्या कारण है कि वे मुझ से बोले तक नहीं? अभयकुमार का पिता के प्रति अगाध भक्तिभाव था। वह माता-पिता के असीम उपकार को भलीभाति समझता था और उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए प्राणों की भी ममता न करता था। वह समझता था—जिन्होंने मुझे जीवन देकर मेरा पालन-पोषण किया है, जिनके अप्रतिम स्नेह से परिपूर्ण गोद में क्रीडा कर बडा हुआ हूँ, उनके लिए जीवन उत्सर्ग कर देना क्या बडी बात है? अतएव अभयकुमार ने सोचा, अवश्य आज महाराज किसी गहरे विचार में डूब रहे हैं। उसने हाथ जोडकर नम्रतापूर्वक पूछा—"पिताजी, आज किस विचार में मग्न हो रहे हैं? प्रतिदिन जब मैं आपकी सेवा में उपस्थित होता था तो आप प्यार से पास में बिठाते थे। आज मैं कभी का आपके समीप खडा हूँ। आपने बैठने की भी आज्ञा प्रदान नहीं की और न मेरी ओर दृष्टि ही डाली। सेवक के रहते आपको चिन्ता क्यों?

आज्ञा दीजिए, ऐसा कौन सा दुष्कर कार्य है जो आपके प्रसाद से मैं न कर सकूँ? किस चिन्ता ने आपको गम्भीर बना दिया है?'

कैसा आदर्श परिवार है! प्रत्येक व्यक्ति में निःस्वार्थता है, सभी एक दूसरे की चिन्ता पर दुःखी हो जाते हैं। कोई किसी का दुःख सहन नहीं कर सकता। पत्नी की चिन्ता, पति ने अपने माथे स्वयं ग्रहण कर ली और पिता का चिन्ता-भार पुत्र अपने सिर पर लेने को उद्यत हो रहा है। शुद्ध प्रेम और शुद्ध भक्ति यही तो है! आज कल के परिवार कलह के केन्द्र बने हुए हैं। यदि वे इस परिवार के त्याग, स्नेह और सहानुभूति का अनुसरण करें तो सर्वत्र शांति, संतोष और सुख का साम्राज्य फैल जाए।

अभयकुमार की सान्त्वनापूर्ण बात सुन सम्राट् श्रेणिक की विचारधारा भंग हो गई। उन्होंने महारानी की इच्छा का वृत्तान्त सुना कर अन्त में कहा—'बेटा, तुम्हारी माता की वर्षा कालीन दृश्य देखने की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है, इसी सोच विचार में पड़ा हूँ। अभी तक कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। उसे पूर्ण तो करना ही होगा।'

अभयकुमार ने पिता की चिन्ता का असली कारण जान कर उत्तर दिया— 'पिताजी, यह कौन सी बड़ी चिन्ता

की बात है? आप प्रसन्न हों, चिन्ता त्यागें। मैं माताजी की कामना पूर्ण करूंगा।

महाराज का शोक कम हुआ। उन्हें अपने पुत्र की चमत्कारिणी बुद्धि का पूरा भरोसा था। पुत्र को प्रेमपूर्वक विदा किया। इधर कुमार ने सोचा—पानी बरसा देना कोई कठिन कार्य नहीं है। वायु के अमुक प्रकार के सम्मिश्रण से यह कार्य सहज ही सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु असमय वर्षाकालीन अन्यान्य दृश्य दिखला देना अत्यन्त कठिन है। यह मानव शक्ति से परे है। अतएव दिव्य शक्ति की सहायता लेने की आवश्यकता है। विचार करने के पश्चात् उसे स्मरण आया—'मेरा एक परम प्रिय मित्र मर कर सौधर्मलोक में महा ऋद्धिवाली देव हुआ है। वह मेरी माता की अभिलाषा पूरी कर सकता है।' यह विचार कर वह अपनी पौषधशाला में गया और पौषधव्रत धारण कर एक आसन से उस देव की आराधना करने लगा। तीन दिन के पश्चात् उसकी साधना सफल हुई। उसके मित्रदेव के शरीर में एक प्रकार का स्फुरण हुआ। देव ने अवधि-ज्ञान के बल से अभयकुमार की साधना को जाना। अवधिज्ञान से बिना इन्द्रिय और मन की सहायता के दूर की रूपी वस्तु जानी जा सकती है। अस्तु। देव अपने पुराने

रीक विमान में बैठ कर तत्काल अभयकुमार के पास आ पहुँचा और अपना परिचय देकर बोला—" कुमार, आपने मुझे स्मरण किया था। मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। मेरे योग्य क्या कार्य है ? कहिए, अभी पूरा करूँ

देव मित्र की बात सुनकर अभयकुमार बहुत प्रसन्न हुआ। बोला —मित्रवर, मेरी पूजनीया माता इस समय वर्षा-कालीन दृश्य देखना चाहती हैं। यह कार्य आपकी ही अनुग्रह से सपन्न हो सकता है। कृपा कर माताजी की कामना पूर्ण कीजिए।

देव ने कहा—'कठिनाई पड़ने पर मित्र की सहायता करना सच्चे मित्र का कर्त्तव्य है। दो हृदयों के मिलने से सच्ची मित्रता उद्भूत होती है। मित्रता उत्पन्न हो जाने पर दोनों हृदय एकमेक हो जाते हैं। अतएव आप और मैं जुदा नहीं और आपकी माता, मेरी भी माता ही है। ऐसी अवस्था में कृपा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं भाग्यशाली हूँ कि आज माताजी की कुछ सेवा करने का अवसर मिला है। अस्तु, मैं जाता हूँ और अभी इच्छानुसार व्यवस्था किये देता हूँ।' यह कह देव वैभार पर्वत के निकट गया और अपनी दिव्य क्रिया के बल से उसने वर्षा काल की रचना कर दी।

वर्षाकालीन रचना हो जाने के अनन्तर अभयकुमार ने महाराज श्रेणिक के समीप जाकर प्रार्थना की—पिताजी, आपकी आज्ञा के अनुसार वर्षाकाल उपस्थित है। आप माताजी को ले जाकर उन्हें सतुष्ट करें।

महाराज श्रेणिक की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्होंने नगर को तोरण आदि से सजाने की आज्ञा दी और सेनापति से चतुरंगिणी सेना सुसज्जित करने को कहा।

महारानी धारिणी ने हर्ष के साथ सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों से शरीर सिंगारा। प्रधान हाथी सजकर तैयार हुआ। महाराज और महारानी उस पर सवार हुए। सेवक चँवर ढोरने लगे और मनोहर बाजों की ध्वनि से दिशाएँ ध्वनित हो उठीं। चतुरंगिणी सेना से परिवेष्टित हो महाराज वैभारगिरि की ओर रवाना हुए। सुन्दर और चित्र विचित्र पताकाओं से सज्जित समस्त नगर का अवलोकन करते हुए वे नगर के विशाल द्वार—फाटक—के बाहर जा पहुँचे। तदनन्तर अनेक कमनीय काननों, सुन्दर सरोवर और छोटे-छोटे पर्वतों को निहारते निहारते वे वैभारगिरि के निकट पहुँचे। वैभार पर्वत ने मन के मन विभार-भार हीन बना दिये। वैभार के नैसर्गिक रमणीय दृश्यों का दर्शन कर महारानी और महाराज आनन्द-विभोर हो गये। इधर-उधर घूम-फिर कर उन्होंने एक जगह विश्राम लिया और

अमृतोपम मधुर भक्षणीय फलों का आहार किया।

महारानी की साध पूरी हुई। वन विहार का आनन्द भोग कर नगर की ओर प्रस्थान किया। अन्त में पौषध शाला में जाकर अभयकुमार ने देवमित्र का यथोचित आदर सत्कार किया और प्रशंसा के पुल बांधते हुए उसे विदा कर दिया। देवमित्र स्वर्गलोक लौट गया।

महारानी धारिणी सुखपूर्वक गर्भ की रक्षा करती हुई समय व्यतीत करने लगीं। वह बड़ी सावधानी से धीरे धीरे चलती, धीरे धीरे उठती बैठती और सोती थीं। दिन में कभी सोती न थीं। हित मित और पथ्य आहार करती थीं—अधिक गरिष्ठ, चरपरा, खट्टा, कड़वा और कसैला भोजन न करती थीं। समयानुकूल, यथासमय शुद्ध, सादा, सात्विक भोजन खाती थीं। चिन्ता, शोक और भय के कारणों को पास भी न फटकने देती और प्रसन्नतापूर्वक ही समय बिताती थीं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से एक ऐसा सम्प्रदाय जन्मा है जो गर्भ की रक्षा को भी पाप समझता है। यह पाप भी जब धर्म के मत्थे मढ़ा जाता है तो उसकी गुरुता और भी बढ़ जाती है। इस सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह विषय ऐसा है कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इस सम्बन्ध में

धर्म अधर्म का निर्णय स्वय कर सकता है। भला वह कार्य धर्म किस प्रकार हो सकता है जो मानव-हत्या का निमित्त बन जाय? जो मानव-समाज की स्वत' उत्पन्न कोमल भावनाओं का सत्यानाश करे! 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अर्थात धर्मात्माओं के बिना धर्म स्थिर नहीं रह सकता, इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य-प्राणी धर्म के आधार हैं और जो धर्म अपने आधार की रक्षा करना पाप समझता है वह उस मूर्ख की श्रेणी में गिना जाना चाहिए जो उसी डाली को काटता है जिस पर वह स्वय बैठा है! आश्चर्य तो यह है कि ऐसे धर्म(!) को मानने वाले लोग अपने समर्थन के लिए शास्त्रीय वाक्यों का दुरुपयोग करने में भी नहीं हिचकते हैं। अस्तु! महारानी धारिणी ने गर्भ रक्षा के लिए जो उपाय किये थे उनका उल्लेख करके शास्त्रकार स्पष्ट रूप से गर्भ रक्षा का मार्ग प्रदर्शन कर रहे हैं और इसी से यह बात सिद्ध है कि गर्भ-रक्षा करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है—वह पाप नहीं हो सकता।

आखिर नौ मास और कुछ दिन व्यतीत हुए। अर्द्ध रात्रि का समय था। आकाश शुभ्र और शान्त था। प्रकृति प्रसन्न थी। इसी समय महारानी के गर्भ से एक सुन्दर बालक ने जन्म लिया। महारानी का हृदय हर्ष से उछलने लगा। दासियों ने उसी समय जाकर यह शुभ सवाद महा-

था। तो भी एक बार उसे स्पर्श लगा ... कोई पार देखे बिना न रहता, फिर भी कभी [illegible] रहा पलता था। [illegible] समय बालक मेघकुमार जब पलनों के बल रखता, माता-पिता के गम्भीर ध्यान लगा तो माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उसे मानो तीन लोक की निधि मिल गई। इस प्रकार जब वह कुछ और बड़ा हुआ और बालकों के साथ क्रीड़ा करने लगा तो माता पिता अपार प्रसन्न हुए।

बालक मेघकुमार जब आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र का हो गया तो महाराज श्रेणिक ने उसे विद्याध्ययन के योग्य समझकर शुभ मुहूर्त में सभी विद्याओं के पारगामी विद्वान, अनुभवी अध्यापक के पास उसे भेज दिया। क्योंकि पिता का कर्तव्य बालक को जन्म देने मात्र से पूरा नहीं हो जाता, बल्कि जन्म देने के पश्चात् ही पिता का कर्तव्य आरम्भ होता है। मानव जीवन की महत्ता को समझने, जीवन को योग्य शिक्षा से विकास करने और उसे समर्थ बनाने के लिए विद्या ही एक मात्र सफल उपाय है। विद्या विहीन पशु, अर्थात् जो मनुष्य विद्या से हीन है वह नराकार होने पर भी वस्तुतः नर नहीं, पशु है। इस लोक और परलोक दोनों विद्या से ही सार्थक होते हैं। पर जैसे-तैसे अध्यापक के पास बालक को सौंप देने से ही विद्या का प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। अच्छा अध्यापक वही है जो अपने

विषय का पारगत पंडित हो और जिसने ज्ञान के फल चारित्र को अर्थात् सदाचार को प्राप्त कर लिया हो। सदाचार के बिना ज्ञान का मूल्य कानी कौडी के बराबर भी नहीं है, यही नहीं बल्कि दुराचारी का ज्ञान उसके अधिक दुराचार का कारण हो जाता है। अतएव शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण वस्तु के लिए वही अध्यापक चुनना चाहिए जो ज्ञानी, सदाचारी और अनुभवी हो। साथ ही निष्कपट भाव से शिष्य के आगे अपना सारा कोष खोल कर रख दे। आदर्श शिक्षक 'सर्वतो विजयमिच्छेत् शिष्यादिच्छेत् पराजयम्' अर्थात सबपर विजय पाने की इच्छा रखता हुआ भी अपने शिष्य से पराजित होने की इच्छा रखता है। तात्पर्य यह कि वह अपने से भी अधिक विद्वत्ता अपने शिष्य म देखना चाहता है। ऐसा आदर्श गुरु ही सच्चे शिक्षक के उच्च पद को प्राप्त कर सकता है। अस्तु।

बालक मेघकुमार की बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी। प्रत्येक विषय को वह शीघ्र ही हृदयगम कर लेता था। अतएव थोडे ही समय में वह गणित, न्याय, व्याकरण, काव्य, शकुनशास्त्र आदि विद्याओं और समस्त कलाओं मे निपुण हो गया। राजनीति और प्रजापालन सम्बन्धी विषयों का भी उसने पूर्ण अध्ययन कर लिया। सैन्य सचालन, व्यूहभेदन, शस्त्रप्रहार आदि युद्ध कला के सब अगोपागो में वह

कुशल हो गया। उसकी वक्तृत्व शक्ति बड़ी तेज थी। अपने पक्ष का मण्डन करने में उसका अद्भुत कौशल था और विरोधी पक्ष को नाना युक्तियों और हेतुओं द्वारा क्षण भर में खण्डित कर डालता था।

जब आचार्य ने मेघकुमार को भलीभांति कुशल समझा तो वे उसे साथ लेकर महाराज के पास आये। बोले—'महाराज, बालक मेघकुमार बड़ा प्रतिभाशाली और होनहार है। उसने बड़ी शीघ्रता से सब शास्त्रों और कलाओं में चामत्कारिक कौशल प्राप्त किया है। कोई कला शेष नहीं रही जिसे कुमार प्राप्त न कर चुका हो।' महाराज ने आचार्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें योग्य आसन पर बिठलाया और कुछ समय बाद उनका यथोचित सम्मान करके विदा किया। कुमार को स्नेह से देखते हुए माता के पास जाने की आज्ञा प्रदान की।

प्राचीन काल में बस्ती से दूर जंगलों में बड़े-बड़े गुरुकुल होते थे। उनमें अनुभवी 'कलाचार्य' बालकों को सब प्रकार की सुशिक्षा देते थे। गुरुकुल में राजा, रंक सभी के बालक समानभाव से रहकर, ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करते हुए, सादगी और संयम से रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। 'कलाचार्य' शिष्यों को अपने पुत्र की भांति स्नेहपूर्वक रखते थे। उस समय आजकल की भांति धनिक न थे जो

विद्याध्ययन को वृथा समझते हैं। वे भली भांति जानते थे कि विद्या केवल उदरपूर्ति का साधन नहीं है। जीवन का विकास, धर्म की रक्षा और समाज की उन्नति शिक्षा पर ही अवलम्बित है। अतएव कुबेर के समान धन होने पर भी वे अपने पुत्र को शिक्षित अवश्य बनाते थे। लक्ष्मी चंचल है। उसे 'चचला' कहते भी हैं। उसके भरोसे संतान को अशिक्षित रखना बादल की छाया के भरोसे छतरी का ताड फेंकने के समान अविवेकपूर्ण कार्य है। धन का कौन ठिकाना है? आज है कल गायब! ऐसी अवस्था में मनुष्य के पास यदि ज्ञान न हुआ तो विपत्तियों की सीमा नहीं रहती। अस्तु, प्रत्येक माता पिता का यह परम कर्तव्य है कि वह अपनी संतान को अवश्य शिक्षित बनावे।

धीरे धीरे कुमार ने यौवन में प्रवेश किया। शरीर के सब अंगोपांग खिल-से उठे। मुखपर अनुपम आभा दमकने लगी। शरीर पुष्ट और बलिष्ट हो गया, पर उनके मस्तिष्क में अनुचित विचारों ने प्रवेश नहीं किया था। घृणित वासनाएँ उनके हृदय का छू नहीं सकी थीं। यौवन के मद में वे उन्मत्त नहीं हो गये थे। उन्होंने अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन बना रखा था, परन्तु माता पिता ने जब कुमार का यह विकास देखा तो उन्हें कुमार के विवाह की चिन्ता हुई। वे कुमार के अनुरूप रूप गुण सपन्न कन्याओं की खोज

करने लगे।

कथा का यह प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें हमें अनेक उपयोगी शिक्षाएँ मिलती हैं। प्रथम तो यह पता चलता है कि प्राचीन काल में युवावस्था प्राप्त होने पर ही विवाह किया जाता था। आजकल की भाँति छोटे-छोटे बालक बालिकाओं का विवाह कर के पुराने लोग उनके जीवन को बर्बाद नहीं करते थे। कच्ची उम्र में विवाह कर देने से मनुष्य अल्पायुष्क, अस्वस्थ, चिररोगी, निस्तेज और पराक्रम हीन हो जाता है। आगे जाकर उसे जीवन असह्य भार प्रतीत होने लगता है। उसमें न ओज होता है, न तेज होता है उसका जीवन एक तरह बलाय बन जाता है। छोटी उम्र की बालिकाओं का विवाह करने में उन्हें भी यही हानियाँ उठानी पड़ती हैं, परन्तु समाज के नियम स्त्रियों के लिए कुछ अधिक संकुचित हैं, अतएव उनकी कठिनाइयाँ भी पुरुषवर्ग से अधिक हैं। इसलिए जो माता पिता अपनी सन्तान को दीर्घजीवी, स्वस्थ और सशक्त देखना चाहते हैं उन्हें विवाह संस्कार में शीघ्रता न करनी चाहिए। वे अधिक से अधिक समय तक ब्रह्मचर्य पालन कर, ऐसा सुन्दर गृहस्थी का वातावरण बनाना चाहिए अथवा किसी विश्वसनीय प्रामाणिक संस्था में उन्हें रख देना चाहिए।

इस प्रसंग में दूसरी बात ध्यान देने योग्य है—अनु

रूप कन्याओं की। स्त्री पुरुष का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध केवल भोग भोगने का सुलभ साधन नहीं है, वरन् अनेक सद्गुणों के विकास का साधन है। स्त्री पुरुष मिलकर भली भांति अपना-अपना योग्य विकास कर सकते हैं, परन्तु दोनों एक दूसरे के अनुरूप होने चाहिएँ। अयोग्य सम्बन्ध दोनों के विकास में रोड़ा अटकाता है। इससे दोनों का जीवन नीरस और कलह का मूल बन जाता है। पुरुष जब किसी उच्च भावावेश में मस्त होकर, दिव्य कल्पना के वायुयान पर आरूढ़ होकर विस्तृत व्योम में विचरता है उस समय पत्नी आकर यदि गहना और वस्त्रों की माग का एक झटका देकर उसे एकदम नीचे गिरा देती है, तो पति के हृदय में एक मार्मिक चोट सी लगती है। मानो किसी ने स्वर्ग से खींच कर नरक में पटक दिया हो! फल यह होता है कि दोनों में मनोमालिन्य हो जाता है और तब गिरस्ती धूल में मिल जाती है। विषम संयोग के दुष्परिणाम आये दिन सैकड़ों की संख्या में सुने जाते हैं। जिनकी प्रकृति पसंदगी और शिक्षा विषम होती है उनका पारस्परिक सम्बन्ध सफल नहीं होता। अस्तु।

महाराज ने कुमार के योग्य सुन्दर और सदाचारिणी आठ राजकुमारियों की खोज की। वह आठों ही अष्ट सिद्धियों के समान मंगलमयी और गुणों से परिपूर्ण थीं। उनके सब

अंग सुन्दर और आकर्षक थे। विनय, नम्रता, लज्जा और शील आदि मनोहर और सच्चे आभूषणों से उनका शरीर शोभायमान हो रहा था। उनके साथ बड़े उत्सव और उत्साह के साथ मेघकुमार का विवाह किया गया।

महाराज श्रेणिक ने उन सबके रहने के लिए सुन्दर सुन्दर आठ महलों का निर्माण कराया। इन महलों में मेघकुमार अपनी रूपवती और गुणशीला भार्याओं के साथ विनोद और क्रीडा करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

परम अहिंसा धर्म के उपदेश-द्वारा संसारी प्राणियों को सत्य मार्ग में लगाते हुए, अनन्तज्ञानी, परम कारुणिक, अशरण शरण, हितोपदेशक, वीतराग दीर्घतपस्वी श्रमण भगवान् महावीर, अनेक देशों में विचरते हुए राजगृही नगरी में पधारे और गुणशील नामक उपवन में विराजमान हुए। उनके पधारने का समाचार विद्युत्-वेग से समस्त राजगृही में फैल गया। श्रमण भगवान् के परम पवित्र दर्शनों के लिए राजगृही की जनता उमड़ पड़ी। सुन्दर २ वस्त्राभूषण पहन कर, लोकोत्तर भक्ति की भावना से भरे हुए, राजमार्ग में आगे बढ़ते हुए लोग उपवन की ओर रवाना हुए।

मेघकुमार अपने महल के किसी उच्च स्थान पर बैठे हुए नैसर्गिक सौंदर्य को निहार रहे थे। श्रावकों के समूह के

समूह गुणशील उपवन की ओर जाते देखे तो उन्हें कौतूहल हुआ। तत्काल सेवक से पूछा—"नगर के य नर-नारी भक्ति क साथ इस ओर क्या जा रहे है ?"

सेवक ने कहा—कुमार ! भूले-भटके भव्य जीवों को मुक्ति का मनोहर मार्ग बताने वाले, श्रमण मणि महावीर स्वामी यहा पधारे है। उनके दिव्य उपदेश को श्रवण करने एव दर्शनों से अपने नयनों को कृतार्थ करने के लिए नगर-निवासी उस ओर जा रहे है।

सेवक की बात सुन कुमार के राम रोम म हर्ष नाचने लगा। भक्ति भाव से हृदय भर गया, माना कोई महान् निधि उन्हें मिल गई हो। वे भी भगवान के दर्शनार्थ जाने की तैयारी करने लगे। उन्होने स्नान किया, स्वच्छ वस्त्रों से अपना शरीर अलकृत किया और अनेक योग्य पुरुषों के साथ उपवन की ओर चल दिये।

उपवन में पहुंच कर जहाँ से भगवान् के दर्शन होते थे वही रथ से नीचे उतर पडे, और पाच प्रकार से अभिगम किया। फूलमाला आदि सचित्त पदार्थो को अपने पास न रहने दिया, उत्तरासन कर हाथ जोडे, सासारिक व्यापारों से चित्तवृत्ति हटाई और प्रभु की परम पावन भक्ति उन के हृदय-सरोवर में तरंगित होने लगी। जब वे भगवान् के निकट आ पहुँचे तब विनय और श्रद्धा के साथ भगवान् को

वन्दन और नमस्कार किया। वन्दन नमस्कार के अनन्तर यथोचित स्तुति करके अपने योग्य आसन पर बैठ गए।

भक्तवत्सल भगवान् ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का वास्तविक स्वरूप समझाया और इन तत्त्वों की हृदयस्पर्शिनी मार्मिक व्याख्या की। जीव और कर्म का सम्बन्ध कैसे और क्या होता है? कर्म, आत्मा को किस प्रकार नाना योनियों में भ्रमण कराते हैं? कर्मों से आत्मा का छुटकारा किन उपायों द्वारा हो सकता है? जीव का निरुपाधिक असली स्वरूप क्या है? मुक्ति क्या है? कल्याण का मार्ग क्या है? इत्यादि विषयों का युक्ति और उदाहरणों के साथ सुन्दर शैली से प्रतिपादन किया। उनके परम प्रशम परिपूर्ण उपदेश पीयूष का परिषद् ने प्रेम के साथ आकण्ठ पान किया। सब श्रोताओं ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार नियम व्रत आदि ग्रहण कर उपदेश श्रवण को सार्थक बनाया और यथोचित श्रद्धा भक्ति प्रकाशित कर सब लोग अपने अपने घर लौट आये।

वास्तव में उपदेश-श्रवण का सच्चा फल तभी प्राप्त होता है जब उसे आचरण में लाया जाए। जो सुनता सब कुछ है पर करता कुछ भी नहीं, उसका सुनना, न सुनने के ही समान है। वह अपने मनोरंजन के लिए सुनता है या किसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है अथवा उप–

देशक की योग्यता जानना चाहता है। वह उपदेश को आत्मश्रेय का साधन नहीं बनाता। एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देना, उसकी वास्तविकता या हेयोपादेयता पर विचारना न करना, केवल एक प्रकार की धृष्टता कही जा सकती है। अतएव श्रोता का कर्त्तव्य है कि वह जिस उपदेश को सुने उसके हेयोपादेय बिंदुओं पर विचार करे और उस विचार को शक्ति के अनुसार व्यवहार में लाए। आत्मकल्याण का यही मार्ग है।

मेघकुमार ने भगवान् की सुधासिक्त वाणी को बड़ी तल्लीनता के साथ श्रवण किया। उनके उपदेश आलोक से मेघकुमार के हृदय का मोहान्धकार हट गया। ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में उनकी आत्मा जगमगाने लगी। सद्विचार रूपी वायु से मेघकुमार का मोहरूपी सघन मेघ छिन्नभिन्न हो गया। संसार उन्हें नाटक के समान अन्तस्तत्त्वहीन नजर आने लगा। धन सम्पत्ति आदि बिजली की चमक के समान क्षणिक भासने लगे। उनके हृदय में वैराग्य की उत्तुंग तरंगें तरंगित होने लगीं। विषय, विष के समान प्रतीत होने लगे। उन्होंने नम्रता और मधुरता के स्वर में भगवान् से अभ्यर्थना की—"प्रभो! आपके उपदेश ने मेरे मोह को दूर कर दिया है, अब मेरे नेत्र खुले हैं। संसार का भयानक स्वरूप जानकर मेरा हृदय उससे

काँप उठा है। प्रभो! मेरा मन संसार से बिलकुल विरक्त हो गया है। संसार के भोग विलास मुझे अतीव भयानक प्रतीत होने लगे हैं। हे नाथ, मैं संसार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं माता पिता के समीप जाकर उनकी आज्ञा प्राप्त कर महाव्रत धारण करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—'भव्य, तुम्हारी वैराग्य-भावना कल्याणकर है। आत्म श्रेय की प्राप्ति करना प्राणी मात्र का कर्त्तव्य है जिस कर्त्तव्य से पुण्य की प्राप्ति हो उसके करने में विलम्ब न करना चाहिए।'

भगवान् की अनुमति समझकर मेघकुमार शीघ्र ही माता पिता के निकट आये। उन्हें यथोचित अभिवादन कर कहने लगे—"आज मैं अत्यन्त ही भाग्यशाली हूँ कि मुझे श्रमण भगवान् के सदुपदेश का श्रवण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मेरा भाग्य धन्य है कि उस उपदेश से मेरा मोह तिमिर तिरोहित हो गया है। मेरी रग रग में वैराग्य की विद्युत् लहर लहरा रही है। इस निस्सार और नश्वर संसार से मैं ऊब गया हूँ। पूज्य माताजी और पिताजी! आप मुझे आज्ञा दीजिए जिससे मैं संसार का मायाजाल हटा कर साधु वृत्ति स्वीकार करूँ। आत्म कल्याण का यही अद्वितीय मार्ग है।"

पुत्र के इन कर्णकटु वचनों को सुनकर पुत्रवत्सला

माता धारिणी अपने को सँभाल न सकी। वह मूर्छित होकर धड़ाम से धरती पर जा गिरी। दासियाँ दौड़ीं। शीतल जल मस्तक पर डाला गया और पवन आदि शीतलो पचारों से उन्हें होश में लाने का प्रयास किया गया। जब उनकी मूर्छा दूर हुई तब वह अत्यन्त करुणापूर्ण स्वर में बोली—बेटा, यह क्या कह रहा तू? मेरी आत्मा को शीतल करने वाला एक मात्र तू ही मेरा परम प्रिय पुत्र है। तू मेरी आँखों की पुतली है, मेरा कलेजा है, मेरा प्राण है। तुझे क्षण भर के लिए भी मैं दूर नहीं कर सकती। बेटा, जब प्राण ही अलग हो जाएँगे तब मेरा यह जीवन कैसे टिकेगा? मैं किसके सहारे अपना जीवन निभाऊँगी? मेरे लाल, अभी तेरे दीक्षा लेने का समय नहीं है। अभी संसार के सुख तू ने देखे ही कहाँ हैं? यह अवस्था राज्य सुख के भोग के योग्य है। जब तक मैं जीवित हूँ राज्य भोग कर मुझे संतुष्ट करो। मैं दीक्षा का विरोध नहीं करती पर सब कार्य समय-समय पर शोभा देते हैं। अभी श्रावक के व्रतों का पालन करो और अपने माता-पिता को सुखी बना कर गृहस्थ के कर्त्तव्य पालो।"

माता की ममता भरी बात सुनकर मेघकुमार ने अत्यन्त धैर्य के साथ कहा—"माँ संसार सम्बन्धी मोह बड़ा भयंकर है। इस मोह जाल में जीव अनादिकाल से उलझा आ रहा

है। मोह ने सम्यग्ज्ञान को विलुप्त कर दिया है मिथ्याज्ञान अपना प्रभाव जमाये बैठा है। इसी मिथ्याज्ञान के माहात्म्य से संसारी जीव नाना व्याधियों के भाग बन रहे हैं। वास्तव में न कोई किसी का पुत्र है न कोई किसी की माता है। सब झूठे नाते हैं—यह तमाम कल्पना की सृष्टि है। आत्मा शाश्वत है, अजर अमर है। न कभी उत्पन्न होता न विनष्ट होता है। ऐसी हालत में जन्म जनक जननी की कल्पना पारमार्थिक कैसे हो सकती है? माँ, जरा अन्तर्दृष्टि से देखो। जीवन का क्या भरोसा है? वह अभी है अभी नहीं। शरीर एक मशीन है कौन जाने कब वह बिगड़ जाएगी? यमराज 'समदर्शी' है। वह बालक, वृद्ध, युवा का भेद नहीं देखता। सब को समान समझता है। तब भविष्य पर निर्भर रह कर वर्त्तमानकालीन कर्त्तव्य की उपेक्षा कर बैठना कहा तक उचित कहा जा सकता है? इसलिए यह बुद्धिसंगत है कि जब मनुष्य को स्व पर का भेद समझ में आ जाय तब वह पल भर भी विलम्ब न करके पर का परिहार कर स्व को स्वीकार करे।

माताजी, सांसारिक भोगोपभोगों की अभिलाषा बड़ी विचित्र है। वह कभी सतुष्ट नहीं होता 'जहा लाहो तहा लोहो' ज्यों ज्यों प्राप्ति होती है त्यो त्यो और अधिकाधिक प्राप्त करने की कामना बढ़ती ही चली जाती है। मन का

मना पूर्ण करने जाते ह ओर सो नयी कामनाएँ सामने आ जाती ह। यह मायाजाल बडा रहस्यमय है। सतोष का साधन समता भाव ह। जिस हृदय म विरक्ति उत्पन्न हो जाती है वह हृदय विषय कामनाओं के लिए ऊसर बन जाता है। उसी मे मनुष्य को शान्ति और सुख नसीब होता है। अतएव सच्चा सुख विषयभोगों का परित्याग करने मे ही प्राप्त होता है।

मानव-जीवन क्षणिक है। शरीर अनेक व्याधियो का घर है, अशुचि है और सदा स्थिर रहने का नहीं। फिर भी उसका श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपयोग हो सकता है और वह यही कि उसे आत्मकल्याण का साधन बना लिया जाय। यदि उससे यह कार्य न लिया गया तो वह निष्फल है। एक दिन आएगा जब बिजली की चमक के समान या सन्ध्याकालीन मेघों के समान देखते-देखते पल भर म ही वह विलीन हो जायगा। जब तक वह है तब तक उसे शाश्वत श्रेय में लगा लेना ही बुद्धिमत्ता है। अतएव माताजी, आप वास्तविकता का विचार करें और मुझे आज्ञा दें कि मै उस परम सत्य की प्राप्ति के लिए सर्वस्व का उत्सर्ग करूं।"

मेघकुमार की वैराग्य परिपूर्ण बातें सुनकर उनके पिता बोले—"बेटा, यदि तुम्हें सयम ही धारण करना था तो विवाह क्यों किया था? देखो, तुम्हारी आठ नव-

युवती पत्नियाँ हैं। उन्होंने संसार का क्या सुख देखा है? उन्हें सुखी बनाना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। और यह असीम साम्राज्य तेरा स्वागत कर रहा है। इसे स्वीकार कर। लक्ष्मी तेरी दासी के समान है। इसका अपमान न कर। सांसारिक सुख भोग कर फिर आत्मकल्याण का पथ अंगीकार करना।"

मेघकुमार ने गम्भीरता से उत्तर दिया—तात, संसार में सुख ही नहीं है तब भोगा क्या जाय? जिसे संसारी लोग सुख कहते हैं वह तो निरा दुःख है। संसार में वास्तविक सुख की कल्पना ही नहीं की जा सकती। दुःख को सुख समझना महान् अज्ञान है। तिस पर, विषय तो विष हैं-घृणित और निंद्य हैं। मन से अन्तःकरण से त्याग कर चुका हूँ। वमन किये हुए भोजन की भाँति अब इन भोगों को मैं स्वीकार नहीं कर सकता। पिताजी, सुख और दुःख, अपने अपने कर्मों के फल हैं। कोई किसी को सुखी और दुःखी नहीं बना सकता। यदि कोई किसी को सुखी दुःखी बना सके तो कर्म सिद्धान्त ही बदल जायगा। अतएव मैं दूसरों को सुखी बनाने में असमर्थ हूँ। हाँ, दुःख का कारण कर्म शत्रु हैं। जो भाग्यशाली नर नारी इन शत्रुओं को भाव युद्ध में परास्त कर देता है वही निष्कंटक सुख साम्राज्य का अधिकारी बनता है। अतएव प्रत्येक

सुखाभिलाषी को इसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। अनादि काल से अब तक न मालूम कितने जन्म धारण कर कितनी बार विवाह किये है। मगर उनमें शाश्वत सुख कभी नहीं मिला। अब की बार मैं लोकोत्तर विवाह करना चाहता हूँ। मुक्ति कन्या का मैं पाणिग्रहण करूँगा। बस यही मेरा अन्तिम विवाह होगा। उसी मे असीम और सहज सुख की प्राप्ति होगी। मै मोक्ष नगर का सम्राट् बनूँगा। मेरा वह साम्राज्य बिजली की भांति क्षणिक नहीं वरन आकाश की भाँति असीम और आत्मा की भाँति शाश्वत होगा।"

माता-पिता ने देखा-मेघकुमार अपने सकल्प पर सुमेरू की तरह अचल है। अनुकूल प्रलोभनों का उसके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं पडा है। तब उन्हों ने सयम की भयकरता का चित्रण करना चाहा। सोचा सयम की कठिनाइयों से मेघकुमार का कोमल हृदय घबरा उठेगा। अतएव उन्हों ने कहा--"बेटा, तुमने ठीक कहा है। वास्तव में सयम ही सच्चे सुख का कारण है। सयम के द्वारा ही आत्मा कर्मों का नाश कर मुक्ति को पाता है। पर इस उच्चतम सयम का पालन करना बच्चों का खेल नहीं है। वह दूध-बतासे का कौर नहीं है जिसमे चटपट निगला जा सके। सयम को तुम जितना सुलभ समझे बैठे हो वह उतना ही

कठिन है। संयम तलवार की धार पर दौड़ना है। यह कोई हँसी ठट्ठा नहीं है। कदाचित् लोहे के चने चबाना सरल है पर साधु वृत्ति का पालन करना कठिन है। कहाँ तुम्हारा मक्खन सा मुलायम शरीर और कहाँ मुनिजीवन के भयंकर उपसर्ग और परीषह! बड़े बड़े युद्धों में प्रचंड शत्रुओं के छक्के छुड़ा देने वाले पराक्रमी योद्धा भी संयम के विकट दुर्ग में प्रवेश करने में हिचकते हैं। संयम में प्रवेश करना मानो भयंकर तरंगों से उछलते हुए प्रलयकालीन समुद्र को भुजाओं से पार करना है। आये दिन भूख, प्यास, सर्दी गर्मी आदि की व्यथा सहना और कंटकमय भूमि पर बिना जूते पैदल भ्रमण करना सहज नहीं है। आज तक तुमने किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक वेदना नहीं भुगती है। राजमहल से बाहर एक पैर भी पैदल नहीं चले हो। शीत और गर्मी के कष्टों को जानते तक नहीं हो। ऐसी स्थिति में संयम के गुरुतर भार को किस प्रकार सम्भाल सकोगे? इसलिए हे पुत्र, कहा मानो। पहले कुछ अनुभव प्राप्त कर लो फिर संयम धारण करना।

कुमार ने कहा—पिताजी, कठिनाइयों से डरना कायर और डरपोक का काम है। कोई भी कठिनता मेरे मार्ग में बाधक नहीं हो सकती। शूरवीर पुरुष कठिनाइयों को निमंत्रण देता है और शक्ति का परीक्षण करता है। वीरता से

उन्हें परास्त कर अपने सकल्प को सिद्ध करता है। यह ठीक है कि सयम धारण करना ऐसे वैसे का काम नहीं—वीर पुरुष ही उसे धारण कर यथायोग्य पालन करते हैं। कायर और भीरु मनुष्यो का यह मार्ग नहीं है। मगर मै सिद्ध कर दूँगा कि सयम का किस प्रकार पालन किया जाता है। आपने क्षुधा, तृषा और शीत उष्ण आदि परिषहो का उल्लेख किया है, पर पिताजी, यह कष्ट नरक और तिर्यंच गति के घोर कष्टो के सामने किस गिनती मे है? इस जीव ने अनन्त बार इन योनियो में उत्पन्न होकर परतत्रता से भयकर दुःखों को सहन किया है तब स्वेच्छा से शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए थोड़े से कष्टों को सहन करना क्या बड़ी बात है? पिताजी, मुनि जीवन की कोई भी कठिनाई मुझे अपने सकल्प से च्युत नहीं कर सकती। मेरा मन सुमेरु की तरह अचल है। मैंने भली भांति सोच विचार कर ही इस मार्ग मे चलने का निश्चय किया है, विचारहीन भावुकता से नहीं। अतएव कृपा कर चरम और सर्वोत्कृष्ट सिद्धि सपादन करने की मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए।"

माता-पिता अपने पुत्र के दृढ सकल्प को देख निराश हो गए। उन्होंने सोचा दीक्षा ग्रहण करने का प्रण यह अब नहीं छोड़ेगा। तब बोले—'कुमार, दीक्षा ग्रहण करना ही है तो भले ही करो पर एक बात हमारी स्वीकार करनी

कठिन है। संयम तलवार की धार पर दौड़ना है। यह कोई हँसी ठट्ठा नहीं है। कदाचित लोहे के चने चबाना सरल है पर साधु वृत्ति का पालन करना कठिन है। कहाँ तुम्हारा मक्खन सा मुलायम शरीर और कहाँ मुनिजीवन के भयंकर उपसर्ग और परीषह! बड़े बड़े युद्धों में प्रचंड वीरों के छक्के छुड़ा देने वाले पराक्रमी योद्धा भी संयम के विकट दुर्ग में प्रवेश करने में हिचकते हैं। संयम में प्रवेश करना मानो भयंकर तरंगों से उछलते हुए प्रलयकालीन समुद्र को भुजाओं से पार करना है। आये दिन भूख, प्यास, सर्दी गर्मी आदि की व्यथा सहना और कंटकमय भूमि पर बिना जूते पैदल भ्रमण करना सहज नहीं है। आज तक तुमने किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक वेदना नहीं भुगती है। राज महल में नंगे एक पैर भी पैदल नहीं चले हो। शीत और गर्मी के कष्टों को जानते तक नहीं हो। ऐसी स्थिति में संयम के गुरुतर भार को किस प्रकार सम्भाल सकोगे? इसलिए हे पुत्र, कहा मानो। पहले कुछ अनुभव प्राप्त कर लो फिर संयम धारण करना

कुमार ने कहा—पिताजी, कठिनाइयों से डरना कायर और डरपोक का काम है। कोई भी कठिनता मेरे मार्ग में बाधक नहीं हो सकती। शूरवीर पुरुष कठिनाइयों को निमंत्रण देता है और शक्ति की परीक्षा करता है वीरता से

उन्हें परास्त कर अपने सकल्प को सिद्ध करता है। यह ठीक है कि सयम धारण करना ऐसे वैसे का काम नहीं—वीर पुरुष ही उसे धारण कर यथायोग्य पालन करते हैं। कायर और भीरु मनुष्यों का यह मार्ग नहीं है। मगर मैं सिद्ध कर दूँगा कि सयम का किस प्रकार पालन किया जाता है। अपने क्षुधा, तृषा और शीत उष्ण आदि परिषहों का उल्लेख किया है, पर पिताजी, यह कष्ट नरक और तिर्यंच गति के घोर कष्टों के सामने किस गिनती में है? इस जीव ने अनन्त बार इन योनियों में उत्पन्न होकर परतत्रता से भयकर दुःखों को सहन किया है तब स्वेच्छा से शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए थोड़े से कष्टों को सहन करना क्या बड़ी बात है? पिताजी, मुनि जीवन की कोई भी कठिनाई मुझे अपने सकल्प से च्युत नहीं कर सकती। मेरा मन सुमेरु की तरह अचल है। मैंने भली भाति सोच विचार कर ही इस मार्ग में चलने का निश्चय किया है, विचारहीन भावुकता से नहीं। अतएव कृपा कर चरम और सर्वोत्कृष्ट सिद्धि सपादन करने की मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए"

माता-पिता अपने पुत्र के दृढ सकल्प को देख निराश हो गए। उन्होंने सोचा दीक्षा ग्रहण करने का प्रश्न यह अब नहीं छोड़ेगा। तब बोले—'कुमार, दीक्षा ग्रहण करना ही है तो भले ही करो पर एक बात हमारी स्वीकार करनी

होगी। हम तुम्हें क्रम से क्रम एक दिन राज्य सिंहासन पर देखने के लिए उत्सुक हैं। हमारी आज्ञा से एक दिन राज्य-कार्य सँभालो, फिर जैसी इच्छा हो वही किया जायगा।"

माता पिता के इस आग्रह से कुमार मौन धारण कर गंभीर विचार में पड़ गए। उनके मौन से पाठक यह न समझ कि कुमार का मन राज्य प्रलोभन ने आकर्षित कर लिया होगा। कुमार, माता पिता के इस अनुनयपूर्ण आग्रह को भी न स्वीकार करते तो माता पिता को बड़ा चोट पहुँचती। ऐसा व्यवहार मेघकुमार के लिए अत्यन्त निष्ठुरता मय होता। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी विश्वास था कि माता-पिता की आज्ञा पालन करने के पश्चात संयम ग्रहण करने की शीघ्र ही आज्ञा मिल सकेगी। फिर वे इन्कार न कर सकेंगे। अस्तु, उन्होंने जनक और जननी की इस आज्ञा को स्वीकार कर लिया।

बड़े समारोह के साथ महाराज ने मेघकुमार को राज्यासन पर बिठलाया और राजा के समस्त अधिकार उन्हें सौंप दिये। मेघकुमार ने आन्तरिक उदासीनता से राज्य किया। एक दिन बीतते क्या देर लगती है? दूसरा दिन हुआ और कुमार ने माता पिता के समीप जाकर फिर संयम-धारण करने की आज्ञा चाही। बोले—'पिताजी आपकी आज्ञा का पालन हो चुका है। अब दीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए।'

महाराज वचन बद्ध थे, कुछ न बोले। राज्यकोष से उन्होंने तीन लाख मोहरें निकलवाईं जिनमें से दो लाख ओघा और पात्रों के लिए भेज दीं और एक लाख नाई को दीं।

पाठक शायद आश्चर्य करें कि इस प्रकार लाखों मोहरें ओघे पात्रों और नाई को क्यों दी जाती होंगी? बात यह है कि उस समय ओघे पात्र दुकान से बिना ही मूल्य दिये जाते थे, किन्तु यदि कोई उनका मूल्य देना ही चाहे तो उसे इतना मूल्य देना ही पड़ता था। राजा तथा अन्य श्रीमान लोग यही मूल्य देकर खरीद करते थे। इसी प्रकार नाई को इतना अधिक द्रव्य इसलिए दिया गया था कि वह सन्तुष्ट रहे और अन्य साधारण जनों से द्रव्य न माँगे। इसके अतिरिक्त उस समय का भारतवर्ष सपन्न भारतवर्ष था—आज की तरह भिखारी नहीं।

महाराज ने अत्यन्त समारोह के साथ दीक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया। अनेक श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित पुरुषों को अपने साथ लेकर दीक्षा दिलाने के लिए वे भगवान् महावीर स्वामी के पास पहुँचे। भगवान के समक्ष खड़े होकर उन्होंने कहा—प्रभो! यह कुमार बड़ा ही सुकुमार है और हम लोगों को प्राणों से अधिक प्रिय है। किन्तु आपका सदुपदेश सुनकर जन्म मरण के दुःखों से उद्विग्न होकर आपके पास साधु-वृत्ति अंगीकार करना चाहता है। मैं आप को शिष्य रूपी

होगी। हम तुम्हें कम से कम एक दिन राज्य सिंहासन पर देखने के लिए उत्सुक हैं। हमारी आज्ञा से एक दिन राज्य-कार्य सँभालो, फिर जैसी इच्छा हो वही किया जायगा।"

माता पिता के इस आग्रह से कुमार मौन धारण कर गंभीर विचार में पड़ गए। उनके मौन से पाठक यह न समझें कि कुमार का मन राज्य प्रलोभन ने आकर्षित कर लिया होगा। कुमार, माता पिता के इस अनुनयपूर्ण आग्रह को भी न स्वीकार करते तो माता पिता को बड़ी चोट पहुँचती। ऐसा व्यवहार मेघकुमार के लिए अत्यन्त निठुरता मय होता। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी विश्वास था कि माता-पिता की आज्ञा पालन करने के पश्चात् संयम ग्रहण करने की शीघ्र ही आज्ञा मिल सकेगी। फिर वे इनकार न कर सकेंगे। अस्तु, उन्होंने जनक और जननी की इस आज्ञा को स्वीकार कर लिया।

बड़े समारोह के साथ महाराज ने मेघकुमार को राज्यासन पर बिठलाया और राजा के समस्त अधिकार उन्हें सौंप दिये। मेघकुमार ने आन्तरिक उदासीनता से राज्य किया। एक दिन बीतते क्या देर लगती है? दूसरा दिन हुआ और कुमार ने माता पिता के समीप जाकर फिर संयम धारण करने की आज्ञा चाही। बोले—'पिताजी, आपकी आज्ञा का पालन हो चुका है। अब दीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए।'

महाराज वचन-बद्ध थे, कुछ न बोले। राज्यकोष से उन्होंने तीन लाख मोहरें निकलवाईं जिनमें से दो लाख ओघा और पात्रों के लिए भेज दीं और एक लाख नाई को दीं।

पाठक शायद आश्चर्य करें कि इस प्रकार लाखों मोहरें ओघे पात्रों और नाई को क्यों दी जाती होंगी! बात यह है कि उस समय ओघे पात्र दुकान से बिना ही मूल्य दिये जाते थे, किन्तु यदि कोई उनका मूल्य देना ही चाहे तो उसे इतना मूल्य देना ही पड़ता था। राजा तथा अन्य श्रीमान लोग यही मूल्य देकर खरीद करते थे। इसी प्रकार नाई को इतना अधिक द्रव्य इसलिए दिया गया था कि वह सन्तुष्ट रहे और अन्य साधारण जनों से द्रव्य न माँगे। इसके अतिरिक्त उस समय का भारतवर्ष सम्पन्न भारतवर्ष था—आज की तरह भिखारी नहीं।

महाराज ने अत्यन्त समारोह के साथ दीक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया। अनेक श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित पुरुषों को अपने साथ लेकर दीक्षा दिलाने के लिए वे भगवान् महावीर स्वामी के पास पहुँचे। भगवान् के समक्ष खड़े होकर उन्होंने कहा—प्रभो! यह कुमार बड़ा ही सुकुमार है और हम लोगों को प्राणों से अधिक प्रिय है। किन्तु आपका सदुपदेश सुनकर जन्म-मरण के दुःखों से उद्विग्न होकर आपके पास साधु वृत्ति अंगीकार करना चाहता है। मैं आप को शिष्य रूपी

भिक्षा देना चाहता हूँ। कृपा कर इसे स्वीकार कीजिए। यह कह कर कुमार को प्रभु के सामने खड़ा कर दिया।

संसार से उदासीन मेघकुमार ने ईशान दिशा में जाकर अपने सब बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतार डाले। उस समय मातृ हृदय की ममता फिर उबल पड़ी। उसका हृदय गद्गद् हो गया। वास्तव में माता का हृदय संसार में सब से बढ़कर स्नेहमय होता है। वह न जाने किन कोमल और भावप्राही परमाणुओं से बनता है! पर महारानी ने अपने को तत्काल ही सँभाल लिया और किसी प्रकार धीरज धरकर बोली—बेटा, दीक्षा लेते हो, लो। तुम्हारी दीक्षा सफल हो। संयम पालन करने में किसी प्रकार की शिथिलता न आने देना। मेरी हार्दिक कामना है कि तू शीघ्र ही अपने अंतिम उद्देश्य को प्राप्त कर। ध्यान रखना बेटा, मेरे दूध को लजाना मत।

किसी प्रकार कहने का काम कर और एक प्रकार की खिन्नता के साथ महाराज और महारानी भगवान् को यथोचित वन्दना नमस्कार कर वापस लौट आए।

मेघकुमार समस्त वस्त्राभूषण उतार कर भगवान् के सामने विनीत भाव से खड़ा होकर बोला—प्रभो, मैं अपना यह अमूल्य मानव जीवन संयम में व्यतीत करने के लिए आपकी शरण में उपस्थित हूँ। अनुग्रह कीजिए और आप

स्वयमेव दीक्षा और शिक्षा देकर मेरे जीवन को सार्थक कीजिए।

भगवान् ने मुनिधर्म में दीक्षित करते हुए कहा—'भव्य, अब से जीवनपर्यंत तुम्हारे सामने एक ही लक्ष्य रहना चाहिए। सतत जागृत रह कर आत्मा की चौकसी करनी होगी। ससार के क्षुद्र और अनर्थमूल विषय कषायों से मुँह मोड लेना होगा। अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुचने के लिए प्रतिपल प्रयत्न करना पडेगा। उठते-बठते, चलते, सोते—प्रत्येक क्रिया करते समय सयममार्ग को स्मरण रखना। मनसा वाचा कर्मणा पूर्ण अहिंसा का पालन करना। मुनियों के पाँच महाव्रत समिति, गुप्ति आदि जो-जो कर्तव्य हैं उन्हें निर्दोष निभाना चाहिए।

भगवान् की इस अमृतमयी वाणी को मुनि मेघकुमार ने ध्यान से सुना और शिरोधार्य किया। भगवान् की आज्ञा के अनुसार वे सयम म विचरने लगे।

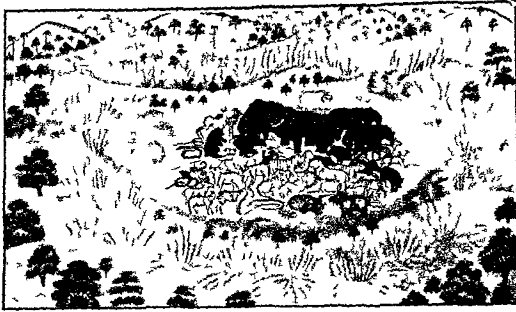
सध्या हुई। सोने के लिए बिछौने बिछाए गए। सब बिछौने छोटे-बडे के अनुक्रम से बिछाए गये थे। मेघ मुनि का बिछौना सब से पीछे और दरवाजे के पास बिछाया गया।

पिछली रात्रि म कोई मुनि स्वाध्याय के लिए, कोई पृच्छना के लिए, कोई धर्म के स्वरूप का चिन्तन करने के

अन की नार तुम अपने यूथ को साथ लेकर अपने मंडल म आ गए। तुम्हारे आने म पहले ही 'माटले' में अपने प्राणों की रक्षा के लिए बहुत से शृगाल, शशक, हिरन आदि जानवर आ घुस थे। उस समय एक शशक, जिसे स्थान न मिला था, स्थान की खोज में था। उसी समय अपना शरीर खुजाने के लिए तुमने अपना पैर ऊपर उठाया और उस जगह वह खरगोश बैठ गया। शरीर खुजाकर तुम अपना पैर नीचे रखने लगे तो वहा खरगोश बैठा मिला। उस समय तुम्हारे अन्त करण में एक प्रकार की आर्द्रता आ गई—प्राणी मात्र के प्रति करुणा उमड पड़ी। जीवानुकम्पा की पुण्य भावना तुम्हारे हृदय में जागृत हुई और खरगोश की रक्षा के अभिप्राय से तुमने अपना पैर जमीन पर न टेककर अधर ही उठाए रखा। इस अनुकम्पा के माहात्म्य से उसी समय तुम्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई और तुम्हारा ससार निकट आ गया।

सम, सवेग, निर्वेद आस्था और अनुकम्पा, सम्यक्त्व के लक्षण है। इनमें से अनुकम्पा प्रधान लक्षण है। जहा प्राणी मात्र के लिए पूर्ण अनुकम्पा जागृत होती है वहा जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति हो जाती है।

सजातीय के प्रति उदारता बताने, उस पर अनुकम्पा करने की अपेक्षा विजातीय पर अनुकम्पा बताने में विशे-



राजगृह (बिहार) के सम्राट् श्रेणिक के सुपुत्र श्री मेघकुमार ने अपने पूर्वभव हाथी के जन्म में, भीषण दावानलके समय खरगोश की प्राण-रक्षा के लिए अपने पैरको तीन दिन तक भूमिपर न टिका कर ऊंचाही उठा रक्खा है।

पता है। मगर जो विजातीय पर दया दृष्टि रखता है वह सजातीयों पर अवश्यमेव रखेगा ही, क्योंकि दया आदि गुणों का विकास क्रम से होता है। वह कुछ बढ़कर सजातीय तक फैलते है, फिर अधिक विकसित होकर विजातीय तक पहुँचते हैं।

दया की यह भावना प्राणी की स्वाभाविक भावना है। पशुओं में भी वह पाई जाती है। ऐसी हालत में विशिष्ट विवेकशाली मानव यदि प्राणी मात्र पर अनुकम्पा न करे तो समझना चाहिए कि उसमें असली मनुष्यता आना शेष है। मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि वह पशु पक्षियों तक पर दया का भाव रखें। उनके प्राणों की रक्षा के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करे। परन्तु ऐसा करने में कभी विवेक को न त्यागे। विवेकहीन क्रिया में लाभ के बदले कभी-कभी हानि हो जाती है। एक ओर एकेन्द्रिय की रक्षा करने के निमित्त वनस्पतिकाय का परित्याग करे और दूसरी ओर दुकान पर बैठकर झूठा बही खाता लिखे, अन्याय और कपट करे तो समझना चाहिए कि उसमें वास्तविक धर्म को समझने की शक्ति अभी उत्पन्न ही नहीं हुई है। जो जैन झूठी साक्षी देता है, कन्या को बेचता है, किसी की आजीविका का विच्छेद कराता है वह सच्चा और पूरा जैन नहीं कहला सकता। वह जैनधर्म को लजाता है।

यह दावानल अढाई दिन तक प्रचंड रूप से धधकता रहा। जब सारा जंगल भस्म हो गया और दावानल का नाम मिट गया तो उस मांडल के सभी प्राणी निर्भय हुए और भूख से व्याकुल होकर आहार की खोज में निकले। उस समय तुमने अपना पैर जमीन पर रखने के लिए नीचा किया। तुम अढाई दिन तक आहार न मिलने से निर्बल हो गए थे और पैर ऊपर रखने से वह अकड गया था। अतएव जमीन पर पैर रखते ही तुम धड़ाम से गिर पड़े। तुममें उठने का सामर्थ्य न रहा। इस प्रकार तीन दिन तक निराहार रहकर तुम काल को प्राप्त हुए और महाराज श्रेणिक के पुत्र हुए। अब संसार से विरक्त होकर तुमने दीक्षा धारण की है।

जो लोग प्राणी की रक्षा को पाप बतलाते हैं उन्हें इस उदाहरण पर निर्मल अन्तःकरण से विचार करना चाहिए। खरगोश की रक्षा करने से यदि हाथी को पाप लगा होता तो वह नरक में न जाकर सम्यक्त्वरत्न, मनुष्यभव, राजकुल और ऐसा धार्मिक संयोग, जो अनंत पुण्य से प्राप्त हो सकता है, कभी प्राप्त कर सकता था?

भगवान बोले—हे मेघ, तुमने हाथी के भव में इतना कष्ट सहन किया था और आज मुनियों के थोड़े से धक्के मात्र से इतने व्याकुल हो गये हो! तुम इतना भी कष्ट न सह सके, यह तुम्हारे जैसे गणनीय संयमी के लिए कितनी

लज्जा की बात है ?

भगवान् के इस प्रतिबोध को सुनकर मेघमुनि का हृदय आत्मग्लानि से भर गया। उसी समय उन्हें अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया और अनुकम्पा-भाव से उनका हृदय परिपूर्ण हो गया। उन्होंने प्रसन्नता के साथ भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर कहा—प्रभो, मैं वास्तव में ही बड़ा अज्ञानी था कि संयम रूपी महान् उच्च गिरिशृंग पर आरूढ़ होकर जरा से कष्ट के कारण नीचे गिरना चाहता था। देव, आपने मेरे भीतरी नयन खोल दिये हैं, असीम उपकार किया है। आज से मेरा यह अकिंचन शरीर मुनिराजों की सेवा में समर्पित है। यावज्जीवन कभी उनके कार्य से मुँह न मोड़ूंगा। मैं सब प्रकार की कठिनाइयाँ और असुविधाएँ सहन कर के भी अपने इस संकल्प से विमुख न होऊंगा। इस प्रकार दृढ संकल्प करके मेघ मुनि संयम में सावधान हो विचरने लगे।

कर्म की शक्ति बड़ी जबर्दस्त है। बड़े-बड़े योगी भी कभी-कभी कर्म के जाल में फँस जाते हैं इसीलिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु, अपने शिष्यों की निर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, धर्म के मार्ग में आगे बढ़ाते हैं और कभी मेघमुनि के समान जो विचलित हो उठते हैं उन्हें धर्म के पथ में पुनः दृढ करते हैं। गुरु मार्गदर्शक हैं,

मार्ग के सहारे हैं, उनके बिना सन्मार्ग से भ्रष्ट होने की बहुत संभावना रहती है और भ्रष्ट होने पर पुनः उसी पर आजाना बड़ा कठिन काम है। मगर गुरु में क्या योग्यताएँ होनी चाहिएँ इस संबंध में उल्लेख करने से विस्तार अधिक होगा और वह अप्रासंगिक ज्ञात होगा। फिर भी इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु निष्पक्ष, निष्परिग्रह, निर्लोभ, देश काल-भाव का ज्ञाता, सत्यदर्शी और सदाचारपरायण होना चाहिए। आजकल कई प्रकार के वेष धारण करके भांग, गांजे और सुलफे के भक्त मस्त मिलते हैं। उनमें वास्तविक गुरु त्व नहीं है।

मेघ मुनि अपने परम गुरु श्रमण भगवान् के प्रतिबोध से प्रतिबुद्ध हो गये। धन्य है मेघमुनि का वह सकल्प, जिस में परोपकार और सेवा की भावना भरी हुई है। शरीर अशुचि और अशाश्वत है। यदि उसे सेवा में लगाया जाय तो वह सार्थक हो जाता है। अन्यथा उसकी प्राप्ति होना न होने के ही समान है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह धर्मसेवा तथा विश्व एवं राष्ट्र के उद्धार में अपने शरीर का उत्सर्ग कर दे।

मेघ मुनि साधुसंघ की सर्व प्रकार की सेवा-भक्ति करते हुए अपना संयत जीवन व्यतीत करने लगे। वह अपना सारा समय सेवा और ज्ञान के अभ्यास में लगाते थे। इस

प्रकार क्रमश अपने ज्ञान की वृद्धि करते करते वे ग्यारह अंग के पाठी हो गए और उपवास से लेकर छह मास तक की कठिन तपस्या करने लगे। या दोनों का मेघ मुनि में सुंदर समन्वय हो गया, ज्ञान और चारित्र दोनों की ही उन्होंने आराधना की। मानों सोने में सुगंध हो गई!

वास्तव में ज्ञान और चारित्र दोनों मिलकर ही मुक्ति के कारण होते हैं। सम्यग्ज्ञान के बिना जो आचरण किया जाता है उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि अज्ञानी की क्रिया संसार का कारण होती है। तथा अकेले ज्ञान मात्र से भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। 'हत ज्ञान क्रियाहीन हता चाज्ञानिना क्रिया।' अर्थात् क्रियाहीन ज्ञान निष्फल है और अज्ञानी की क्रिया निष्फल है। जहां दोनों समान रूप में विद्यमान होते हैं वहां आत्मकल्याण का मार्ग साफ हो जाता है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ तप आत्मा को उन्नत बनाता है और कर्मों के नाश में सहायक होता है। ज्ञान-सहित तप करने वाला साधु सांसारिक यश और बाह्य आडम्बर की स्वप्न में भी कामना नहीं करता। वह सांसारिक भोगोपभोग की भी चाहना नहीं करता। वास्तव में सज्ञान तप ही श्रेयस्कर अतएव आराध्य है।

भगवान् महावीर राजगृह से विहार कर अनेक देशों में विचरते हुए अपने सुधोपम शीतल उपदेश से प्राणियों

के वाह्याभ्यन्तर सताप को हटाने लगे। एक बार मेघमुनि ने भगवान के समीप उपस्थित होकर उन्हें यथोचित वन्दना कर भिक्षु की पडिमा (प्रतिमा) करने की आज्ञा मांगी। भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने पडिमाओं का यथाविधि से अनुष्ठान किया। फिर भगवान से गुणरत्न सवत्सर करने की आज्ञा मांगी। प्रभु ने मेघमुनि की बढ़ती हुई शक्ति का अनुभव किया और कहा—"हे भिक्षो! जिस कार्य मे आत्मा को सच्चा सुख मिले उस कार्य के करने में विलम्ब न करना चाहिए। तुम आत्मसुखाभिलाषी हो। मेरी आज्ञा है—तुम आत्मकल्याण करो।"

प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर मेघमुनि एक मास तक एक दिन भोजन और एक दिन उपवास करने लगे। वह दिन में सूर्य के सन्मुख आतापन योग और रात्रि को वीरासन योग धारण करते थे। इस प्रकार एक मास पूर्ण हो गया। दूसरे महीने एक दिन भोजन और दो दिन उपवास धारण कर रहने लगे। इसी प्रकार तीसरे मास तीन उपवासों के पश्चात्, चौथे महीने चार उपवासों के बाद, भोजन करने के क्रम मे बढ़ते बढ़ते उन्होंने सोलहवें दिन बाद पारणा किया। इस भांति गुणरत्न सवत्सर तप करके उन्होंने और भी बहुत सी दुर्द्धर तपस्या भी और कर्मों को एकदम निर्बल बना डाला।

तप, कर्म रूपी ईंधन को जलाने में प्रचण्ड अग्नि के

समान है। तप के द्वारा कर्म नष्ट होकर मुक्ति प्राप्त होती है। अनेक जन्मों में किये हुए घोर पाप भी तप की तीव्र ज्वाला में जलकर भस्म हो जाते हैं। तप से आत्मा शुद्ध होता है, मानसिक वासनाएँ और कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

तपश्चरण में आत्मिक लाभ के अतिरिक्त अनेक प्रकार के शारीरिक लाभ भी होते हैं। जीवन को भार बना देने वाली अनेक भयंकर व्याधियाँ उपवास-द्वारा नष्ट हो जाती हैं। उपवास से उदर के अन्दर जमा हुआ मल साफ होता है और जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। शरीर शुद्ध होता है और नवीन रक्त एवं वीर्य की वृद्धि होती है। आयुर्वेद में उपवास का बड़ा माहात्म्य वर्णित है। अमेरिका के डाक्टरों ने 'उपवास चिकित्सा' की प्रतिष्ठा की है। 'तपसा चीयते व्याधि' अर्थात् तप से शारीरिक रोग नष्ट होते हैं। जो रोग अनेक औषधियों का सेवन करने से भी दूर नहीं होते उनमें उपवास ही कारगर होता है।

इस प्रकार तप शारीरिक व्याधियों को दूर कर शरीर को शुद्ध—नीरोग बनाता है और आत्मिक शुद्धि में भी कारण होता है। अनेक लोग पानी द्वारा शारीरिक मल दूर करते हैं और अग्नि एवं सुहागे से सुवर्ण के मल को हटा देते हैं, पर आत्मा का मैल तीव्र तपश्चर्या किये बिना नहीं धुल सकता। इसलिए जैन सिद्धान्त में विविध तपस्याओं का उल्लेख

किया गया है।

इस प्रकार कठिन तपश्चर्या करते हुए उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर उन्होंने समाधिमरण धारण करने का विचार किया। भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर समस्त मुनियों के समक्ष उपस्थित होकर उनसे क्षमा याचना की।

यद्यपि साधु मुनिराज किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष का भाव नहीं रखते किसी से लड़ाई झगड़ा नहीं करते, सदैव समता और शांति में विचरने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने पर भी कभी कषाय प्रकृति के उदय से प्रवृत्ति में दूषितता आ गई हो तो उसके लिए क्षमायाचना करना साधु का कर्त्तव्य है। भगवान् ने फरमाया है कि क्षमायाचना करने में हाथ की रेखा सूखने तक का भी विलम्ब न करना चाहिए। जो साधु एक पक्ष तक क्षमायाचना नहीं करता उसकी साधुवृत्ति नष्ट हो जाती है, चातुर्मास तक क्षमायाचना नहीं करने से श्रावकपन चला जाता है और संवत्सर तक क्षमायाचना न करने से सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि संज्वलन क्रोध की स्थिति १५ दिन की, प्रत्याख्यानी क्रोध की ४ मास की और अप्रत्याख्यानी क्रोध की स्थिति एक वर्ष की है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध सम्यक्त्व का उदय नहीं होने देता, अप्रत्याख्यानावरण का क्रोध श्रावक विरति नहीं होने

देता और प्रत्याख्यानावरण का क्रोध साधुत्व में बाधक होता है। सञ्ज्वलनक्रोध यथाख्यात चारित्र का प्रतिबन्ध करता है।

मुनि मेघकुमार क्रोध की भयकरता को भलीभांति जानते थे, अतएव उन्होंने मुनियों से क्षमा-याचना की। यद्यपि उनके मन में किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव उत्पन्न न हुआ था, तथापि सम्भव है, बिना उपयोग ही अव्यक्त रूप में किसी के प्रति कोई अनुचित व्यवहार हो गया हो, यह सोचकर मेघमुनि ने क्षमायाचना कर लेना अपना कर्त्तव्य समझा। क्षमायाचना करने के बाद कुछ ऐसे मुनियों को, जिन्होंने समाधि पूरी न होने तक भोजन-परित्याग की प्रतिज्ञा की थी, अपने साथ लेकर वे विपुलाचल पर्वत पर पहुँचे और एक शिला पर घास आदि का बिछौना बिछाकर 'नमोत्थुणं' से सिद्ध एवं तीर्थंकरों की स्तुति कर अपने व्रतों की आलोचना करने लगे। स्वीकार किये हुए व्रतों, नियमों या प्रतिज्ञाओं में किसी प्रकार का दोष तो नहीं लग गया है, इस बात पर वे सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने लगे। तत्पश्चात् ग्रहण किये हुए व्रत का पुनरुच्चारण करके उन्होंने जीवनपर्यंत आहार पानी के परित्याग कर देने की प्रतिज्ञा ग्रहण की।

आहार-पानी के परित्याग से कोई यह न समझे कि उन्होंने आत्महत्या करने का उपाय किया है।

गया है, अतः नये सिरे से तैयारी करने के लिए सशक्त शरीर चाहिए। सशक्त शरीर तभी प्राप्त हो सकता है जब पुराना शरीर छूट जाय। मृत्यु द्वारा ही पुराना शरीर छूटता है, अतएव मृत्यु से भयभीत क्यों होना चाहिए? जैसे बालकपर्याय मिटने से युवापर्याय का प्रादुर्भाव होता है, उसमें शोक का कोई कारण नहीं, इसी प्रकार एक पर्याय का त्यागकर दूसरी पर्याय को धारण करना मृत्यु है, उसमें शोक के लिए स्थान ही नहीं है। यह तो एक प्रकार की लम्बी यात्रा है और ऐसी यात्रा जिससे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार की विचारधारा ही सत्य और शान्तिप्रद है। इसके विपरीत लोक में जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह अकल्याणकारी है। माथा मारने और छाती कूटने से भी मृतात्मा वापस नहीं लौट सकता, तब फिर रो पीट कर, आर्तध्यान करके नये अशुभ कर्मों का बन्ध करने से क्या लाभ है? भव्य और विवेकी जीवों का यह कर्त्तव्य है कि वे किसी प्रिय जन का वियोग होने पर धैर्य धारण करें तथा शान्ति और संतोष के साथ धर्मकार्य में लीन रहें। संसार की अनित्यता और जीवन की क्षणभंगुरता का विचार कर और आत्मा की नित्यता की पुनः पुनः भावना करें।

साथ वाले मुनिराज, मेघमुनि के शरीर को वोसराकर उनके भंडोपकरण लिए हुए भगवान् के समीप आये और

वन्दना नमस्कार करके बोले—"प्रभो! आपके शिष्य मेघ मुनि अतीव भद्र और विनीत प्रकृति के थे।"

संयमी साधु प्रायः निष्कपट और भद्रस्वभावी होते हैं। जो साधु कपटाचार करता है या वक्रता धारण करता है वह साधुवृत्ति में कलंक लगाकर दुर्गति का पात्र बनता है। साधु का जीवन सरलता और शान्ति से परिपूर्ण होना चाहिए। शत्रु और मित्र पर उनका समान भाव होना चाहिए। वन में या सजन भवन में एक-सा उनका आचार होना चाहिए। सच्चा मुनि अपने भक्त के सामने जो कुछ कहेगा वही अपने ऊपर द्वेष रखने वाले विद्वेषी के सामने भी कहेगा। उनके कहने और करने में किसी प्रकार का भेदभाव न होगा। मन में और, वचन में और तथा करें कुछ और, यह मायाचार उनके पास तक नहीं फटक सकता। जो विवेकहीन साधु और श्रावक इस प्रकार का व्यवहार करते हैं वे अविश्वासपात्र बनकर अपने संयम को कलंकित करते हैं। अस्तु।

उन मुनियों ने पूछा—"देवाधिदेव! भद्र और विनीत मेघ मुनि ने संथारा लेकर शान्ति और समाधिपूर्वक अपना आयुष्य पूर्ण किया है। प्रभो! यह उनके भंडोपकरण हैं।"

उसी समय गौतम स्वामी ने पूछा—"भगवन्! मेघ मुनि आयुष्य समाप्त कर किस जगह उत्पन्न हुए हैं?"

भगवान्—हे गौतम! मेघमुनि देवलोक तथा नव-

कुंजी है। सत्य धर्म की प्रतिष्ठा और मर्यादा की भी इसी प्रकार रक्षा हो सकती है।

मेघकुमार ने अन्त में जो महान् उत्कर्ष प्राप्त किया उसका आरम्भ वस्तुतः अनुकम्पा भावना से होता है। खरगोश की अनुकम्पा रूपी बीज ने क्रमशः विकसित होते-होते एक विशाल वृक्ष का रूप धारण किया। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनुकम्पा सिद्धि की प्राप्ति का कारण है, परन्तु खेद है कि मिथ्यात्व मोहनीय के उदय के कारण जैन धर्मानुयायियों में ही एक ऐसा दल उत्पन्न हो गया है जो जैन धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों की निर्दयतापूर्वक हत्या करके, मनुष्य की मनुष्यता को भी दूर करने का प्रयत्न करता है और साथ ही जैन धर्म को लजाता है।

महामुनि मेघकुमार किस प्रकार अनुकम्पा की सीढ़ी द्वारा अपने जीवन का चरम विकास के पथ पर लगा सके, यह इस शास्त्र में सुस्पष्ट कर दिया गया है। भव्य जीव, आत्मकल्याण के हेतु इस प्रकार विचार करें और अनुकम्पा भाव को मेघकुमार के समान बढ़ाकर मुक्ति प्राप्त करें।

दूसरा अध्याय

लगभग २००० वर्ष पहले की बात है। उस समय राजगृही नगरी मगध देश की प्रसिद्ध राजधानी थी। महाराज श्रेणिक और उनके पुत्र कुणिक के राज्यकाल में राजगृही अपने पूर्ण यौवन में थी। वह बहुत विशाल, रमणीय, सपन्न और ऐश्वर्य मे परिपूर्ण थी। इस महान् नगरी का सौभाग्य भी महान् था, क्योंकि महावीर प्रभु ने सोलह चातुर्मास इसमें व्यतीत किये थे।

राजगृही के बाहर उत्तर दिशा में एक गुणशील नामक सुन्दर और रमणीय उद्यान था। इस उद्यान के समीप ही एक पुराना और उजडा हुआ उद्यान था। किसी समय वह भी बडा रमणीय रहा होगा, परन्तु अब वह बडे-बडे घने पेडों से अत्यन्त भयकर जान पडता था। ठीक ही है, ससार

का प्रत्येक पदार्थ प्रतिपल परिणमन करता रहता है और थोड़े ही दिनों में और का और हो जाता है। बड़े-बड़े विशाल नगर ऊजड़ हो जाते हैं और ऊजड़ में सुन्दर नगर का निर्माण हो जाता है। यही क्या, प्रातःकाल जो सम्राट् था, सिंहासन पर बैठा था वही शाम को दर दर का भिखारी बन जाता है। एक घड़ी पहले जहां महोत्सव मनाया जा रहा था वहीं अब हाय हाय मच जाती है। संसार में यह विषमता सर्वत्र व्याप्त है। यहां कोई स्थिर नहीं, सब चला चली में हैं। यही कारण है कि भव्य जन प्राप्त हुए अस्थायी सुखों को लात मारकर शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं।

उस उजड़ उद्यान में एक टूटा फूटा देवालय था। वह उद्यान अनेक वृक्षों एवं लताओं से ढँका हुआ सा था। अनेक सर्प आदि जीव जन्तुओं ने उसे अपना स्थान बना लिया था। देवालय के समीप ही एक पुराना कूप था। उस कूप के पास मालुका नामक एक कच्छ था जो बाहर सँकड़ा और भीतर से विस्तृत और गंभीर था।

इसी राजगृही नगरी में धन्ना नामक एक सार्थवाह रहता था। वह अपरिमित धन और ऐश्वर्य से सम्पन्न एक प्रतिष्ठित सेठ था। उसका घर कुटुम्बी जनों से परिपूर्ण था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। भद्रा 'यथा नाम तथा गुणा'

की उक्ति के अनुसार बड़े ही भद्र स्वभाव की महिला थी। वह सुन्दरी, सुकोमला, शुभलक्षणा और मृदुभाषिणी थी। नवयौवन से भूषित, कमनीय कान्ति वाली वह रमणी-मणि अपने पति की सेवा में सदैव तत्पर रहती थी। पति का विशुद्ध प्रेम उसे पूर्ण रूप में प्राप्त था।

संसार में कभी किसी को संतोष नहीं होता। बहुत कुछ होने पर भी किसी न किसी वस्तु का अभाव मनुष्य को व्याकुल बनाये रखता है। धनवान् को जनाभाव और जनवान् को धनाभाव पीड़ा पहुँचाता है। कोई भी व्यक्ति अपनी स्थिति में सुख का अनुभव नहीं करता। वह सदा 'कुछ और' चाहता रहता है। यह संभव नहीं कि संसार में किसी की सब कामनाएँ पूर्ण हो सकें। प्रथम तो ऐसा हो ही नहीं सकता, तिस पर कामनाओं का कहीं अन्त भी नहीं आता। इसीलिए तत्त्वज्ञानी पुरुष संसार को दु:खमय कहते हैं, उसे त्याग देने की प्रेरणा करते हैं। धन्ना सार्थवाह के पास अपरिमित धनराशि थी। उसके ऐश्वर्य का ठिकाना न था। परिवार भी पर्याप्त था, फिर भी एक अभाव उसे सदा चिन्तित बनाए रखता था। उसके पुत्र न था और इसीसे उसे आमोद-प्रमोद की सब सामग्री फीकी जान पड़ती थी।

धन्ना सार्थवाह के यहां एक नौकर था। उसका नाम पंथक था। पंथक सुडौल, सुन्दर, कान्तिवान् और बच्चा

को खेलाने में बहुत चतुर था। वह बच्चों को ऐसे खेल खेलाता था जिनसे बच्चों का मनोरंजन हो तथा उनके शरीर और बुद्धि का विकास हो। वास्तव में बच्चों को ठीक तरह खेलाना साधारण बात नहीं है। बच्चों का मस्तिष्क बहुत ही ग्राही होता है। वे अपने आसपास की बातें शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। हृदय उनका ऐसा कोमल होता है कि तत्काल वे प्रत्येक बात से प्रभावित हो जाते हैं। जो कुछ बड़े लोग उनके सामने करते या कहते हैं उसी से उनके संस्कार बनते हैं और उन्हीं संस्कारों के आधार पर उनके जीवन का निर्माण होता है। अतएव जो लोग बच्चे को सदाचारी, नीतिपरायण और धर्मप्रेमी बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे विवेकहीन, दुराचारी, अधार्मिक और नीतिभ्रष्ट नौकर चाकरों के संसर्ग से उनकी रक्षा करें। जो लोग अपने कार्यों में सतत व्यग्र रहते हैं और बालकों को नौकर चाकरों एवं पड़ौस के जैसे तैसे बालकों के पास खेलने छोड़ जाते हैं, उनके चरित्रगठन पर बारीक दृष्टि नहीं रखते, उनके बालकों का भविष्य मंगलमय नहीं बनता। अतएव, बालकों को खेलाने वाले नौकरों का आचार आदि की कसौटी पर भली भांति कस कर ही उनके हाथों में अपने बालक को सौंपना चाहिए। पथक ऐसा ही बुद्धिमान नौकर था।

धन्ना सार्थवाह गंभीर, अनुभवी और विवेकी था। अतएव उनके मित्र, स्नेही, कुटुम्बी-जन आदि प्रत्येक कार्य में उसकी सम्मति लेते थे। उनकी सम्मति से किया हुआ कार्य सफल होता था। इसके अतिरिक्त नगर में अनेक कलाभवन और उद्योगशालाएँ थी जिनके कार्यकर्त्ता भी समय समय उनसे परामर्श करते थे। इस प्रकार धन्ना सार्थवाह नगर में सब के प्रिय और प्रतिष्ठित पुरुष थे।

राजगृही नगरी के बाहर विजय नामक एक प्रसिद्ध चोर रहता था। वह चोरी सम्बन्धी भयंकर कार्यों में अत्यंत ही निपुण, निर्भीक और साहसी था। कठिन से कठिन और भयानक से भयानक कार्य करने में वह जरा भी नहीं हिचकता था। उसका चेहरा क्रोध के कारण सदा भयानक बना रहता था। आखों से क्रोध की चिनगारिया निकला करती थीं। लाल लाल आखें और लम्बी दाढ़ी बड़ी डरावनी थी। बड़े-बड़े दात ओठों से बाहर निकले रहते थे। सिंह के समान उसके लम्बे और खरे बाल सदा मस्तक पर फैले रहते थे। भ्रमर या राहु के समान उसका एकदम काला रूप देखते ही कँपकँपी छूटती थी। वह क्रूरता का अवतार था। दया उससे कोसों दूर थी। रौद्र से रौद्र और भयंकर से भयंकर पापकर्म करके भी वह कदापि पश्चात्ताप नहीं करता था। चोर और जघन्य कृत्य करने वाला, दूसरों को सदा भय-

भीत बनाने वाला, निष्ठुरहृदय वह चोर अनेक अत्याचार और अनर्थ करने में जरा भी संकोच न करता था। वह सर्प के समान वक्रदृष्टि और द्रव्य हरण करने में तलवार की धार के समान तेज था। वह जिसका धन चुराना चाहता, अवश्य चुरा लेता था। धन का स्वामी कितना ही सतर्क और जागरूक क्यों न हो, उसके चंगुल में फँसे बिना नहीं रहता था। उसके आगे किसी की कुछ न चलती थी। जनता की दृष्टि में वह अग्नि की तरह भयंकर, घातक और दाहक था। उसका प्रलयकाल के समान कोप जिस पर टूट पड़ता उसका सर्वस्व नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता था। शनैश्चर के समान उसकी क्रूर दृष्टि जिस पर पड़ जाती थी उसका सत्यानाश हुए बिना न रहता था। वह महा पापी, मद्य मांसभक्षी, वेश्यागामी और हत्यारा था। अनेक गुप्त मार्गों का उसे पता था और बहुत-से टूटे-फूटे गुप्त मकानों को वह अच्छी तरह जानता था।

एक रात्रि में धना सार्थवाह की पत्नी सुखशय्या पर शयन कर रही थी। तीसरे पहर अचानक उसकी निद्रा भंग हो गई। उसका बेचैन मन उसे उद्विग्न करने लगा और वह पुनः नींद लाने का प्रयास करने लगी। पर निद्रा न आई, न आई। उसी समय उसका मन पुत्राभाव की ओर आकृष्ट हुआ। वह सोचने लगी—धन्य है वह महिला, जिसकी गोद

में नवनीत सुकुमार शिशु किलकता है, क्रीडा करता है और अपने निर्विकार बालसुलभ हासभास से माता के नेत्रों को शीतल करता है। हाय ! मैं कैसी अभागिनी हूं कि मेरे एक भी पुत्र नहीं है। क्या उपाय करूँ जिससे पुत्र का मुख देखकर मैं भी कृतार्थ हो सकूँ ? इन भावों के आते ही वह बड़ी गंभीर चिन्ता में पड गई। विचार करते-करते उसके चेहरे पर अन्त में कुछ प्रसन्नता की झलक दिखाई दी, शायद उसने पुत्र प्राप्ति का उपाय खोज निकाला है। उसे ध्यान आया, प्रातःकाल होते ही मैं पति की आज्ञा लेकर नाग भूत यक्ष के देवालय में जाकर उसकी पूजा करूंगी और उससे पुत्र की याचना करूंगी। आशा है, इस युक्ति से अवश्य ही मुझे पुत्र प्राप्ति होगी।

प्रभात होते ही भद्रा ने स्नान किया और सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कर पति की आज्ञा ले, पूजन की सामग्री सहित अनेक सौभाग्यशालिनी स्त्रियों को साथ लेकर नगर से बाहर पुष्करिणी बावडी के किनारे पहुची। वहां पत्र पुष्प आदि रखकर 'कयबलिकम्मा' * अर्थात् स्नान करके गीले वस्त्र धारण कर नाग भूत यक्ष के मन्दिर में गई। यक्ष को

* कोई-कोई लोग इस शब्द का अर्थ 'देवपूजन करना' कहते हैं पर यह अर्थ गलत है। इसका अर्थ स्नान करना या स्नान संबंधी क्रीड़ा करना ही उपयुक्त है।

उसने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और उसकी यथायोग्य पूजा की।

पूजा से निवृत्त होकर भद्रा पुन पुष्करिणी बावडी पर आई और साथ की स्त्रियों के साथ भोजन करके घर लौट गई।

कुछ समय के पश्चात् वह गर्भवती हुई। यक्ष की पूजा के बाद वह गर्भवती हुई इससे महिलाएं यह न समझें कि यक्षपूजा से पुत्र-प्राप्ति होती है। यक्षमें यदि पुत्र दे सकने की सामर्थ्य होती तो संसार म कोई भी पुत्रहीन न होता। सब यक्ष की आराधना करके पुत्र प्राप्त कर लेते। वास्तव में पुत्र आदि की प्राप्ति पुण्य कर्म के उदय से ही होती है। पुण्य कर्म के बिना यक्ष आदि कुछ भी नहीं दे सकते। भद्रा सार्थ-वाही के पुण्य का उदय हुआ, अतएव उसे गर्भ रहा। यक्ष-पूजा से नहीं।

नव मास व्यतीत होने पर भद्रा के गर्भ से एक सुदर पुत्र उत्पन्न हुआ। सेठ ने उसका नाम देवदत्त रक्खा। वह माता-पिता का अति प्यारा पुत्र था। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे।

भृत्य पथक देवदत्त को बहुत से बालक बालिकाओं के साथ प्रतिदिन खेलाया करता था। तरह तरह के खेल खेला कर, बच्चों म स्वय बचा बनकर वह उसका मनोरजन

करता और उसे सदा प्रसन्न रखता था।

एक दिन भद्रा ने देवदत्त को अच्छी तरह नहलाया-धुलाया और हीरा, पन्ना, मोती आदि के बहुमूल्य आभूषण पहनाए और प्यार से चूमकर खेलने भेज दिया। पंथक रोज खेलने की जगह ले गया और उसे एक स्थान पर बिठला कर आप अन्य बालकों के साथ खेलने लगा। उस समय मालुक कच्छ में रहने वाला विजय चोर चोरी करने के इरादे से नगर में घूम रहा था। उसने हीरे पन्ने आदि से सजे हुए बालक को देखा तो उसका मन मुग्ध हो गया। कीमती आभूषणों पर उसका मन चल गया। उसने आभूषणों के साथ बालक को हरण करने का निश्चय किया। पंथक की आँख बचाकर उसने देवदत्त को अपनी बगल में दबाकर कपड़े में छिपा लिया और तेजी के साथ वहां से भागा।

गहनों की बदौलत नादान बच्चे की जान जोखिम में पड़ गई। इन्हीं के प्रताप से उसका अपहरण हुआ। बच्चों को गहना पहनाना उनके प्राणों को संकट में डालना है। आये दिन सैकड़ों बच्चे गहनों के कारण प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। गुंडे, चोर, बदमाश लोग हर समय ऐसे बच्चों की खोज में रहते हैं और जहां उन्हें गहने पहने कोई बच्चा नजर आया कि उस पर गीध की तरह झपटते हैं। कई

लोग बच्चों को किसी वस्तु का लोभ देकर उन्हें फुसलाकर ले जाते हैं और अनुकूल स्थान में उनके प्राण ले लेते हैं। वास्तव में गहनों में सुन्दरता देखना, दृष्टि का विकार है। बालक स्वभावतः मनोहर होता है। उसका असली सौन्दर्य गहना न पहनने में ही है। खेद है कि वासना का गुलाम बनकर मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य को बिगाड़कर विकृत सौन्दर्य की सृष्टि करता है और वह सौन्दर्य प्राणघातक सिद्ध होता है।

यही नहीं गहनों के कारण बालक बाह्य दृष्टि बन जाता है। वह ऊपरी टीमटाम में ही रीझा रहता है। आन्तरिक सुन्दरता की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाने पाती, अतएव प्रत्येक विवेकी माता पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी संतान को ऐसा बनाएँ जिससे वे बहिरात्मा न बनें, सद्गुणों को ही श्रेष्ठ गहना समझें।

चोर देवदत्त को लेकर टेढ़े मेढ़े चक्करदार रास्तों में होता हुआ उस भग्न वन में भग्न कूप के पास पहुँचा। वहाँ देवदत्त को मारकर उसने गहने ले लिए और उसकी लाश कुए में फेंक आप मालुका कच्छ में जा घुसा।

कुछ समय बाद जब पंथक का खेल पूरा हुआ तो वह देवदत्त को जहाँ छोड़ गया था वहाँ आया। पर देवदत्त को न देखकर बहुत घबराया, रोता चिल्लाता हुआ

इधर-उधर खोजने लगा। सब जगह तलाश कर लेने पर भी देवदत्त का पता न चला तो अन्त में निराश हो धन्ना सार्थवाह—अपने स्वामी—के पास आया, और रुआसा होकर बोला—'स्वामी, आज मैं देवदत्त को खेलाने ले गया था। पता नहीं कहाँ से कौन उसे हरण कर गया है ?"

पथक के इन शब्दों से सार्थवाह के हृदय पर मानो वज्रपात हुआ। उसे मार्मिक चोट पहुँची। वह मूर्छित हो धडाम से धरती पर जा गिरा। शीतलोपचार से जब वह होश में लाया गया तो 'हाय मेरे लाल ! हाय मेरे प्राण-प्यारे बेटे ! हा ! मेरे हृदय के एक मात्र आधार ! कहाँ चले गये ?' आदि कह कहकर विलाप करने लगा।

सांसारिक संयोग का फल वियोग है। जिससे जिसका संयोग हुआ है उसका उससे वियोग होना निश्चित है। संयोग और वियोग दोनों न होते तो संसार की व्यवस्था ही न जाने कैसे होती ! यह सब होते हुए भी मोह अपने प्रबलतर प्रहार से उचित-अनुचित के विवेक को नष्ट कर डालता है। मोही जीव इसी कारण वस्तु तत्व के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम नहीं कर पाता। सचमुच मोह का माहात्म्य अपरिमित है। समस्त संसार में उसका साम्राज्य विस्तीर्ण है। कीट-पतंग से लेकर मनुष्य और देवता भी उसके जाल में फँसे हैं। यही मोह आत्मा को जन्म जरा

मरण आदि के भीषण दुःखों के सागर में पटकता है। अतएव सच्चे सुख की अभिलाषा रखने वाले प्राणियों का कर्त्तव्य है कि वे मोह रूपी मल्ल को पछाड़ने का निरन्तर प्रयत्न करते रहें।

सार्थवाह मोह के वश होकर विलाप कर रहा था, पर विलाप से विछुड़ा हुआ देवदत्त क्या पुन मिल सकता था? अत उसने अपने समस्त नौकर चाकरों को पुत्र की खोज के लिए चारों ओर नगर में भेजा और स्वयं भी निकल पड़ा। नगर का कोना कोना खोज डालने पर भी देवदत्त का कहीं पता न चला। अन्त में वह कुछ भेंट लेकर नगर के कोतवाल के पास आया और पुत्र हरण का समाचार कह सुनाया।

कोतवाल शस्त्रों से सज्जित हो सेठ के साथ बालक की तलाश में निकला। खोजते खोजते अन्त में वे उसी कूप के पास जा पहुँचे जिसमें देवदत्त का शव पड़ा था। कुएँ में झाँक कर देखने पर किसी बालक का शव तैरता दिखाई दिया। निकालने पर मालूम हुआ, यह देवदत्त का ही शव है। उस शव को देखते ही सेठ की जो दशा हुई वह शब्दों द्वारा चित्रित नहीं की जा सकती। उसकी मार्मिक व्यथा भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकते हैं या सर्वज्ञ जान सकते हैं।

चतुर कोतवाल ने पैरों के चिह्न देखकर निश्चय किया कि चोर यहीं कहीं छिपा होना चाहिए। पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए कोतवाल 'मालुक कच्छ के किनारे पहुँच गया। उसे विश्वास हो गया कि इसी कच्छ में चोर छिपा होगा। अतएव वह अपने शस्त्र सँभालकर बड़ी सावधानी के साथ कच्छ के भीतर घुसा। चोर पकड़ा गया और मजबूत बन्धनों से जकड़ दिया गया। बालक के गहने उसके पास ही थे। कोतवाल गहनों के साथ चोर को राजा के पास ले गया और बोला—"महाराज! अत्यंत क्रूर हत्यारा यह विजय चोर आज पकड़ा गया है। इसने जनता में हाहाकार मचा रखा है। इस पापी ने अनेक साहसपूर्ण चोरियाँ और हत्याएं की हैं। यह अत्यन्त निर्दय हत्यारा है। सेठ के पुत्र को भी इसी ने मारा है, अतः कृपा कर इसे उचित दंड दीजिए।"

राजा, विजय चोर की करतूतों से पहले ही परिचित था। कोतवाल की बात सुनकर उसने कहा—'कोतवाल, इसे मारते-पीटते हुए नगर भर में घुमाओ और फिर कारागार में डाल दो।'

चोरी और व्यभिचार आदि कुछ ऐसे कृत्य हैं जिनमें आत्मा का अधःपतन तो होता ही है, साथ में समाज की सुव्यवस्था भी नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। चोरी आदि कुकृत्य

है ? मैं भूख का मारा तड़फ रहा था और तुम आनन्द से भोजन गटक रहे थे ! प्रार्थना करने पर भी तुमने मुझे एक कण तक न दिया। मेरा पेट भूख की ज्वाला में जल रहा है। मैं इस स्थान से तिल भर भी न हटूंगा।

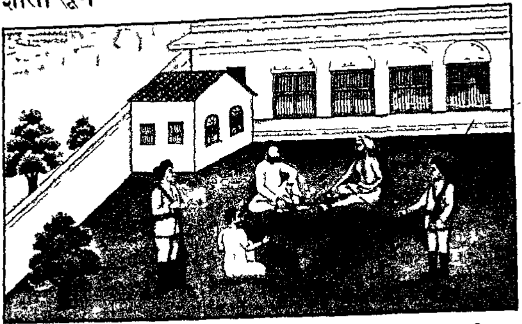
सेठजी लाचार थे। उनके पैर विजय के साथ बँधे थे, अकेले जा नहीं सकते थे। किसी प्रकार कुछ समय काटा, मगर शौच की तीव्र बाधा को वे अन्त तक सहन न कर सके। तब फिर चोर से चलने की प्रार्थना की। चोर टस से मस न हुआ। सेठजी दुःखित स्वर में कहने लगे भाई, मुझ पर दया करो। मेरे प्राण निकल रहे हैं, मेरे साथ चलो।

चोर—सेठजी, मैं एक शर्त पर तुम्हारे साथ चल सकता हूँ। वह शर्त यह है कि कल से तुम्हारे लिए जो भोजन आवे उसमें से मुझे भी हिस्सा देना पड़ेगा। इसके बिना मैं एक पैर भी न सरकूँगा।

सेठजी बड़े असमंजस में पड़े। पुत्रघातक को भोजन का एक सीथ भी देना उन्हें स्वीकार न था, पर दिये बिना काम भी नहीं चल सकता था। अन्त में लाचार हो उन्हें भोजन देने का वचन देना पड़ा। तब दोनों एकान्त स्थान में गये और सेठजी निपटकर अपने स्थान पर आ गए।

दूसरे दिन दास भोजन लेकर फिर जेलखाने पहुँचा। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सेठजी ने स्वयं भोजन करके

ज्ञाता-सूत्र



विश्वस्त सेठ, कारागारमें अपने पुत्र-घातक चोर के साथ, बेड़ी के बन्धनमें बंधकर, विवशता के कारण उस चोरको भी अपनही भोजनमेंसे, भोजन दे रहा है।

चोर को भी भोजन कराया। सेठजी के इस व्यवहार से दास कुढ़ गया। उसने घर पहुँच सेठानीजी से कहा—'सेठजी ने पुत्रघातक विजय चोर को भोजन देकर बड़ा भारी अनर्थ किया है।' भद्रा सेठानी यह बात सुनकर बहुत दुःखी हुई। वह पति पर क्रुद्ध हो गई। उसके हृदय में पति के प्रति जो प्रेम का भाव था उसका स्थान वैर भाव ने ग्रहण किया।

कुछ समय के पश्चात सेठजी के इष्ट-मित्र और कुटम्बी जन राजा के पास गए और विनयपूर्वक सेठ के अपराधों के लिए क्षमा प्रार्थना कर उसे कारागार से मुक्त करा लाए।

सेठजी की कारागार मुक्ति से उनके प्रिय जनों को तथा नगर-निवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। लोगों ने उनका स्वागत किया। सेठजी विशेष विशेष व्यक्तियों से मिलते हुए घर आये। घर के सब नौकर-चाकरों ने उनका स्वागत किया और कुशल-समाचार पूछे। कुटुम्बी जनों से मिलने के पश्चात् वे अपनी पत्नी के पास गए। पत्नी क्रोध से जल रही थी। उसने सीधे मुँह बात तक न की, बल्कि मुँह फेर कर खड़ी हो गई। अपनी पत्नी का यह आकस्मिक और अभूतपूर्व व्यवहार देख कर सेठजी चकित रह गए। उन्होंने कहा—'प्रिये, इस अवसर पर

रूठने का क्या कारण है ? मैं जेल से मुक्त होकर आया हूँ, इसके लिए तुम्हें तो सबसे अधिक प्रसन्न होना चाहिए था। पर आज तुम में किंचित परिवर्तन दिखाई दे रहा है। तुम मुझ से बोलती नहीं। यही नहीं, मुझे देखकर मुँह फर लिया है! कहो,इस आश्चर्यजनक व्यवहार का क्या कारण है?

भद्रा—आप कहते हैं, मुझे प्रसन्न होना चाहिए। बात तो ठीक है, पर जरा अपनी ओर तो निहारो! बड़ी-बड़ी मुसीबतों से प्राप्त हुए मेरे एकलौते पुत्र का जिसने हरण किया, जिसने मेरा सर्वस्व छीन कर मुझे जीवन पर्यंत घोर यातना पहुँचाई, उस हत्यारे कठोरहृदय चोर को भोजन खिला खिलाकर आपने उसकी रक्षा की है! आपका यह व्यवहार क्या जले पर नमक छिड़कने के समान नहीं है? ऐसी दशा में आप मेरी प्रसन्नता की आशा कैसे रखते हैं?

सेठजी ने पत्नी को सान्त्वना देते हुए कहा—'प्रिये, किसी भी बात का पूर्वापर विचार किये बिना निर्णय कर लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। कार्य, शरीर का व्यापार है और भावना मन का व्यापार। दोनों कभी कभी एक दूसरे के अनुकूल होते हैं, पर सदा अनुकूल ही हों, यह नियम नहीं है। देश, काल और परिस्थिति के कारण एक ही कार्य विभिन्न-विभिन्न भावनाओं से सम्पन्न होता है। यदि मैं उस

हत्यारे को सहायक या मित्र समझकर भोजन देता तो निस्सन्देह मैं तुम्हारा अपराधी था। पर ऐसा नहीं है। मैं उसे भोजन दिये बिना जीवित ही नहीं रह सकता था। मैंने अपने स्वार्थ से बाध्य होकर उसे भोजन दिया था। बताओ, वह साथ न जाता तो मेरी शारीरिक आवश्यकताएँ कैसे पूरी होतीं और कैसे मैं यहां जीवित लौट पाता? मुझे बाध्य होकर, अनिच्छा से केवल अपना काम निकालने के लिए, उसे भोजन देना पड़ा था।'

पति के इस स्पष्टीकरण से भद्रा सन्तुष्ट हुई। उसने अपने अनुचित व्यवहार के लिए क्षमा याचना की और आदर तथा प्रेम के साथ सेठजी से मिली। दम्पति पूर्ववत् फिर आनन्द के साथ रहने लगे।

आजकल का दाम्पत्य जीवन अनेक प्रकार के क्लेशों से परिपूर्ण हो गया है। घर में शांति और प्रसन्नता के बदले घोर अशान्ति और मनमुटाव पाया जाता है। इससे जीवन शुष्क और नीरस हो गया है। दम्पति का कर्तव्य है कि वे जब एक दूसरे का अपराध देखें तो मिष्ट वाणी में उसे समझावें और जो भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हो उसे शान्ति के साथ हटाकर घर में प्रफुल्लता, शान्ति और प्रसन्नता का वातावरण बनाये रखें तथा एक दूसरे के आत्म विकास में सहायक बनें।

विजय चोर कारागार के अपार दुःखों के भार को किसी प्रकार सहन कर मरा और अपने घोरतम पापकर्मों के फलस्वरूप नरक में गया। वह नरक की भयंकर यातनाएँ भोगकर जन्म मरण करता हुआ संसार-परिभ्रमण करेगा।

एक बार धर्मघोष नामक मुनिराज अनेक छोटे बड़े ग्राम आदि में विचरते हुए राजगृही नगरी में पधारे। उनका उपदेश अत्यन्त हृदयग्राही और मार्मिक होता था। वह बड़े विद्वान् और कुशल उपदेशक थे। जगत् को धर्म का संदेश देना उनका एक प्रधान कर्त्तव्य था। स्थान स्थान पर धर्म की घोषणा करने के कारण उनका नाम 'धर्मघोष' पड़गया था।

उनके शुभागमन के समाचार सुन राजगृह की धार्मिक जनता उनके सदुपदेश को श्रवण करने के लिए उमड़ पड़ी। धन्ना सार्थवाह भी उपदेश-श्रवण के लिए गए। मुनिराज ने ज्ञान संसार के दुःखों और उनसे मुक्त होने के उपायों का सुन्दर विवेचन किया। वैराग्य से परिपूर्ण उपदेश का सार्थवाह के हृदयपर अच्छा प्रभाव पड़ा। वह संसार से विरक्त हो कर, सब प्रकार के परिग्रह रूपी ग्रह से छुटकारा पाकर दीक्षित हो गये। उन्होंने बहुत वर्षों तक संयम की आराधना की और अंत में एक मास का संथारा धारण करके प्रथम देवलोक में महा ऋद्धिधारी चार पल्योपम की

आयु वाले देव हुए। देवलोक के सुख भोग कर, अपनी आयु पूर्ण करके, वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म धारण करेंगे और जिनदीक्षा धारण करके तपश्चरण की अग्नि में कर्मों का ईंधन बनाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

उपसंहार

धन्ना सार्थवाह और विजय चोर की कथा, सिर्फ कथा नहीं है बल्कि उसमें एक महान् आध्यात्मिक तत्त्व सन्निहित है। उस तत्त्व को समझ लेना ही इस कथा के मर्म को समझना है।

जिस प्रकार धन्ना सेठ और विजय चोर एक ही बेड़ी में जकड़े थे उसी प्रकार आत्मा और शरीर एक ही बंधन में बँधे हैं। आत्मा सेठ और शरीर चोर के स्थान पर है। जैसे चोर दूसरों की संपत्ति का अपहरण करने में और अनेक दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होता है वैसे शरीर आत्मा से भिन्न पुद्गल-जन्य सुखों को प्राप्त करने में और अपने को हृष्टपुष्ट बनाने में तत्पर रहता है।

सेठने चोर को भोजन दिया था, पर अपना मित्र, सहचर या हितैषी समझ कर नहीं, वरन् स्वार्थ साधने के लिए ही दिया था। इसी प्रकार ज्ञानी जन शरीर को हृष्टपुष्ट बनाने के लिए उसमें अनुराग रखकर उसे भोजन नहीं देते, किन्तु

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शुद्धि के अभिप्राय से देते हैं। शरीर, आत्मविकास का अनिवार्य साधन है। उसके सहयोग के बिना आत्मा के कल्याण में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव आत्महित रूपी सर्वोत्कृष्ट स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए शरीर को भोजन देना पड़ता है। योगी जन, शरीर के लिए आत्मा का उत्सर्ग नहीं करते, किन्तु आत्मा के लिए शरीर का उत्सर्ग भले ही कर देते हैं।

शरीर रूपी चोर को भाड़े के रूप में यदि टुकड़ा न दिया जाय तो वह आत्मार्थ में उसी प्रकार बाधा पहुँचाता है जैसे चोरने सेठ की शौच क्रिया में बाधा डाली थी अतएव ज्ञानी जन जप,तप, भजन रूपी इष्ट की सिद्धि के हेतु शरीर को भोजन देते हैं, उसे पोषण करने के लिए नहीं। इस सिद्धान्त को हृदयगम करके तथा तदनुसार आचरण करके प्रत्येक व्यक्ति, साधु, गृहस्थ आदि इसलोक और परलोक में प्रशंसा प्राप्त करते हैं और करेंगे। उन्हें यम की यातना नहीं भुगतनी पड़ेगी। वे असीम और शाश्वत आत्मिक सुख प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

तीसरा अध्याय

प्राचीन काल में चम्पा नगरी अत्यन्त विशाल, सुन्दर और वैभव से भरपूर थी। स्वर्गपुरी भी उसके सामने तुच्छ जान पड़ती थी। अनेक श्रीमान् और विद्वान् उसमें निवास करते थे। वह व्यापार का एक मुख्य केन्द्र थी।

प्रजाप्रिय महाराज अजातशत्रु (कुणिक) उस नगरी के अधिपति थे। वे सूर्य के समान प्रतापी थे, चन्द्रमा के समान प्रजा के आह्लादक थे, समुद्र के समान गभीर और मर्यादापालक थे। प्रजा पर उनका पुत्रवत् स्नेह था। प्रजा के सुख में सुखी और दुख में दुखी होते थे। इसलिए उनकी प्रजा भी उनके प्रति आन्तरिक आदर का भाव रखती थी। सर्वत्र आनन्द था। प्रजा संतुष्ट, सुखी, सम्पन्न, शीलवान् और स्वस्थ थी।

चम्पा नगरी के बाहर सुभूमि नामक एक सुन्दर बाग था। उसके उत्तर में सघन वृक्षों से व्याप्त एक विकट वन था। उस वन में एक सुन्दर मोर रहती थी। जब मोर अपने चित्र विचित्र पंख फैलाकर नृत्य करती तो बड़ी मनोहर मालूम होती थी। मेघ की गंभीर गर्जना सुनकर मोर के हर्ष का पारावार न रहता था। वह मानों मेघ गर्जना का स्वागत करने के लिए श्रुतिमधुर आलाप करने लगती थी। उसने दो सुन्दर सफेद रंग के अण्डे दिये थे। मोर उन अंडों का अत्यन्त वत्सलभाव से पालन कर रही थी।

इसी चम्पा में जिनदत्त और सागरदत्त नामक दो सेठ के पुत्र रहते थे। वे दोनों बाल्यकाल से ही मित्र थे। उनका परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था। दोनों की बालकेलि और शिक्षा एक साथ हुई थी। दोनों की उम्र भी समान थी। किसी भी मेला या महोत्सव आदि के अवसर पर वे साथ ही रहते और प्रत्येक कार्य एक दूसरे की अनुमति से ही करते थे। उनका स्नेह अकृत्रिम था। उसमें स्वार्थ की गंध नहीं, कपट का लेश नहीं था। नगरी के लोग उन्हें दो शरीर एक प्राण कहते थे।

एक दिन दोनों आनन्दमग्न हो सुन्दर बगीचे में बैठे हुए प्रकृति के रमणीय दृश्यों को निहार रहे थे। बगीचे में भांति भांति के सुरभिपूर्ण पुष्प खिले हुए थे। हरियाली

छाई हुई थी। उस सुन्दरता के कारण दोनों का मन मुग्ध हो रहा था। उसी समय जिनदत्त ने सागरदत्त को अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा—मित्र, देखो प्रेम संसार में कैसी अद्भुत वस्तु है। ये लताएँ कैसे प्रणय-भाव से वृक्षों से लिपटी हैं! रसिक भ्रमर कलियों के रस का आस्वादन करता हुआ उनकी सुगंध में मस्त हो रहा है और गुनगुना कर अपने आन्तरिक प्रमोद को व्यक्त कर रहा है। वायु के आगमन से लताएँ थिरक-थिरक कर नाच रही हैं। पक्षी गण परस्पर प्रसन्नतासूचक कलकलनाद कर रहे हैं। वास्तव में प्रेम धन्य है। प्रेम के आधार पर ही समस्त जीव सृष्टि अवलम्बित है। हम दोनों इसी प्रकार प्रेम के प्रगाढ बन्धन में बँधे रहकर जीवनलीला समाप्त करेंगे तो कितना अच्छा होगा! अहा, प्रेमी-जीवन कितना सरस, शान्तिकर और सुखमय होता है। प्रेम रूपी देवता के प्रसाद से कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं।

इस प्रकार कह कर दोनों एक विचित्र भावावेश में मग्न हो गए। दोनों ने सुख-दुःख, सम्पत्ति विपत्ति, व्यापार और विदेश गमन आदि प्रसंगों पर साथ रहने की फिर प्रतिज्ञा की और प्रेम की तरंगों में बहने लगे।

इसी नगरी में देवदत्ता नामक एक वेश्या रहती थी। उसका महल ऐश्वर्य, हासविलास और भोगोपभोग की

सामग्री से परिपूर्ण था। अनेक दास दासी उसकी सेवा में सदा तत्पर रहते थे। युवकों के मन को आकृष्ट करने में वह बड़ी निपुण थी। तरह तरह के हावभाव और कटाक्षों द्वारा वह नगर के धनिक लोगों को क्षणमात्र में अपने प्रति आसक्त कर लेती थी। उसकी मनोहर नृत्यकला और गान सुनकर नगरी के अनेक नवयुवकों ने अपना हृदय उसे समर्पण कर दिया था। उसे प्रेम करने वाले अनेक थे, पर उसका सच्चा प्रेम किसी पर न था। उसकी उपासना करने वालों की कमी न थी, पर वह धन के सिवाय किसी की भी उपासिका न थी।

वेश्या गमन वास्तव में एक बड़ा भारी अमंगलकारी पातक है, कलंक है जो मनुष्य वेश्या के चक्कर में पड़ जाता है उसका उद्धार होना कठिन हो जाता है। वेश्यागमन से श्रावक का व्रत तो खंडित होता ही है, साथ में जीवन भी बर्बाद हो जाता है। इसके प्रताप से कुबेर कंगाल बन जाता है, देव दानव बन जाता है, मानव राक्षस बन जाता है। वेश्यागमन वह प्रचंड अग्नि है जिसमें मनुष्य की तमाम कीर्ति, प्रतिष्ठा और मानमर्यादा भस्म हो जाती है। वेश्यागामी पुरुष विलास की अखण्ड धारा में बहता ही जाता है। बिना उत्कट पुण्योदय के वह किनारे नहीं लग पाता। उसका धार्मिक, नैतिक और शारीरिक पतन हो जाता है।

तेजस्विता नष्ट हो जाती है। उसका जीवन उजडे और उखडे हुए पेड़के समान बन जाता है जो अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकता। अतएव प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह इस पातक से बचा रहे अपने सर्वस्व को न गँवावे। अस्तु।

एक दिन जिनदत्त और सागरदत्त ने विचार किया—इस सुहावने समय में हम लोग कल वस्त्रों एवं आभूषणों से सजकर देवदत्ता गणिका को साथ लेकर वनक्रीडा करने चलें और पूरा दिन क्रीडा ही में बिताएँ। प्रात:काल होते ही उन्होंने सेवकों को नन्दा पुष्करिणी के निकट एक सुन्दर मंडप बनाने की और स्वादिष्ट तथा रुचिकर भोजन, फल, पुष्प, गंध तथा विलास की अन्य सामग्री सजा रखने की आज्ञा दी।

दोनों मित्र फूलों और पदार्थों से सजे हुए तथा सुन्दर और हृष्टपुष्ट बैल जिसमें जुते हुए थे ऐसे रथ पर सवार होकर गणिका के मकान पर पहुँचे। उन्हें आते देख गणिका बहुत प्रसन्न हुई और आदर-सत्कार करने के पश्चात् उनके सामने बैठकर मधुर मुस्कान से उनका मन मोहित करने लगी। फिर वह कहने लगी—"आप श्रीमानों ने बहुत समय बाद यहा पधारकर मुझे कृतार्थ किया है, एतदर्थ मैं आभारी हू। कहिए, क्या आज्ञा है?"

दोनों मित्र उसके मधुर हास और वचनालाप में मोहित होकर बोले—"प्रिये, तुम्हारे सुन्दर रूप और नृत्य गान ने हमारे मन को अपने अधीन बना लिया है। तुम्हारे ये मादक नयन हमारे ऊपर जादू सा असर कर रहे हैं। हम चाहते हैं, तुम हमारे साथ चलकर अपने मनोहर नृत्य गान से हम लोगों का मन प्रसन्न करो।"

वेश्या जो चाहती थी वही उसे मिला। वेश्या सदा किसी न किसी कामी शिकार को फँसाने की युक्ति सोचा करती है। ये स्वयं ही आकर फँस गए। अतएव वह नम्रता से बोली—"आप नगर के धनी मानी श्रीमान् हैं। आपकी आज्ञा का पालन करना ही होगा। मैं तो आपकी सेविका हूँ। सब प्रकार आपके मन को प्रसन्न करना ही मेरा परम कर्त्तव्य है।"

इतना कह अपने साज सामान के साथ वह इठलाती हुई रथ में बैठ गई और सब वन की ओर चले। वहां एक सुसज्जित तम्बू में अनेक प्रकार की भोजन सामग्रियां थालों में सजी रखी थीं। पके हुए स्वादिष्ट फल, फूलमालाएँ और विलास की सभी सामग्रियां उपस्थित थीं। वहां पहुँचकर सब ने भोजन किया, मालाएँ पहनीं और हाथ में हाथ मिलाकर मदोन्मत्त हो मधुर वार्तालाप करते हुए बगीचे में टहलने लगे।

हास्य विनोद में मस्त होने के कारण उन्हें मार्ग का कुछ भान न रहा और चलते चलते उसी अटवी के पास जा पहुंचे जहा मयूरी के सुन्दर अडे रक्खे थे। इन लोगों को आते देख मयूरी अत्यन्त भयभीत हुई और चीत्कार करती हुई उडकर पासवाले पेडपर जा बैठी। मयूरी की एकाएक चीख से एक क्षण के लिए उनका आगे बढ़ना रुक गया। उन्होंने सोचा—'मयूरी के एकदम चीत्कार कर उडने में वश्य रहस्य अवश्य होना चाहिए।' वे दोनों उसी स्थान पर गए जहा मयूरी पहले बैठी थी। उन्हें दो सुदर अडे दिखाई दिये। उनकी सुन्दरता देख वे मुग्ध हो गए। कहने लगे—'अहा! ये कैसे सुन्दर अडे है। चलो, इन्हें घर ले चलकर पोसेंगे। जब ये बडे हो जाएंगे तो चुटकी बजा बजा कर नचाएंगे और इनका सुन्दर नाच देख देख कर मन प्रसन्न करेंगे।' उन्होंने अडों को ले जाना निश्चित करके नौकरों को बुलाया और उन्हें आदेश दिया—'देखो ये मयूरी के दो सुदर अडे हैं। इन्हें सुरक्षित ले जाकर कुकडी के अडों में रख दो। खूब अच्छी तरह सभालना।' आज्ञा पाते ही नौकरों ने दोनों अडे उठा लिए और अपने स्वामियों की आज्ञा के अनुसार व्यवस्था कर दी।

मनुष्य जब एक ओर तन्मय हो जाता है तब उसे उस 'एक' के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। शेष ससार उसे

शून्य सा सामने लगता है। जिनदत्त और उसका मित्र-दोनों ही आनन्द में मग्न थे। उन्हें समय का भान न रहा और चलते चलते बहुत दूर जा निकले। सध्या का समय हो गया। आखिर दोनों मित्र सन्ध्या के साथ हास विलास करते हुए वापस लौटे। रथ पर सवार हो अपने स्थान पर आये और वेश्या को यथेष्ट पारितोषिक देकर उसे प्रसन्न किया। वह भी खुशी खुशी अपने घर चली गई।

रात्रि के बाद प्रातःकाल हुआ। सागरदत्त मयूरी के अंडे के पास पहुँचा और उसे हाथ में लेकर सोचने लगा--'इस अंडे में से मयूर निकलेगा भी कि नहीं ? निकलेगा तो न जाने कब निकलेगा ?' इस प्रकार सोचकर वह उसे बार बार धरती पर धर कर उठाने लगा। फिर भी उसका संशय न मिटा। वह उसे बार बार कान के पास ले जाकर हिलाता और जमीन पर रखता। इस प्रकार शंकारूपी शत्रु से पीड़ित हो सागरदत्त अंडे के साथ खेल-सा करने लगा। बार बार की इस उथल पुथल से अंडा निर्जीव हो गया। वह बिलकुल नरम और ढीला पड़ गया।

एक दिन फिर उसे अंडे का ध्यान आया। वह विचारने लगा--अब अंडे में से मयूर निकल आया होगा। फिर तुरंत ही उसका ध्यान बदल गया और वह अपने आप कहने लगा--सम्भव है, मगर इसमें से निकले, सम्भव है,

न भी निकले। इस प्रकार विचार करता हुआ वह अंडे के पास गया और नाना प्रकार की आशंकाएँ करने लगा।

जिनदत्त भी एक अंडा ले गया था। वह सागरदत्त की भांति शंकाशील न था। उसे अण्डे के निकलने का विश्वास था। अतएव न तो उसने अण्डे को हाथ लगाया, न उठाया और न हिलाया ही। फलस्वरूप यथासमय जिनदत्त के लाए हुए अण्डे में से एक सुन्दर मयूर का बच्चा निकला। वह बड़ा मनोहर था और आकर्षक था। उसके बाहर निकलते ही जिनदत्त ने एक कुशल मयूर-पालक को बुलाया और कहा—देखो, इस मयूर के बच्चे को ले जाओ। इसका अच्छी तरह पालन-पोषण करना। समय आने पर इसे नाचना सिखाना और नृत्यकला में खूब होशियार बनाना।

मयूरपालक बच्चे को अपने यहाँ ले गया। उसने बड़े चाव से उसका पालन पोषण किया और नाचने की कला में उसे प्रवीण कर दिया। मयूरपालक ज्योंही चुटकी बजाता मयूर का बच्चा त्योंही बड़े सुन्दर ढंग से अपने रंगबिरंगे पंख फैलाकर नाचने लगता था। कभी कभी वह आकाश की ओर देखकर श्रुति-मधुर केकारव करता और कभी कोई अजनबी आहट पाकर भयचकित हो इधर-उधर निहारने लगता था। उस समय वह बड़ा ही सुन्दर जान

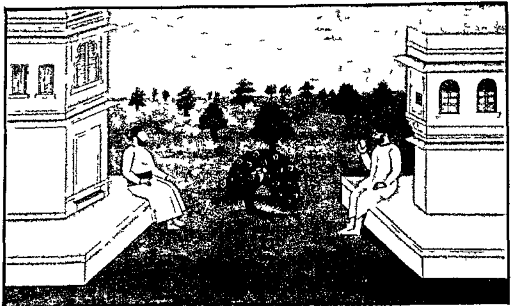
पडता था।

मयूर शावक जब नृत्यकला में निपुण हो गया तो मयूरपालक उसे जिनदत्त के पास ले गया। जिनदत्त उस का कौशल देख बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मयूरपालक को यथेष्ट पारिश्रमिक देकर प्रसन्न किया।

यह मयूर अब जिनदत्त का स्नेहभाजन बन गया। मयूर अपने स्वामी का मनोरंजन करता था और जिनदत्त उसे हार्दिक स्नेह से सँभालता था। नगर निवासी उसके नृत्य को देखकर मारे प्रसन्नता और कौतूहल के फूले न समाते थे। उसका नृत्य देखने के लिए लोगों की भीड़ लगी रहती थी। लाखों मनुष्यों ने उसके नृत्य को देखा और प्रसन्न होकर उसे लाखों रुपये पारितोषिक में दिये।

इस प्रकार उस अण्डे पर प्रेम और विश्वास रख कर जिनदत्त ने एक सुन्दर मयूर प्राप्त किया जो उसके आनन्द और संतोष का कारण हुआ।

सागरदत्त ने अपने संशयशील और अधीर स्वभाव के कारण अण्डे को निर्जीव बना दिया निर्जीव अण्डे से फिर मयूर कैसे निकल सकता था? अतएव वह दुःखी हुआ। एक बार जिनदत्त के मयूर को देख कर उस ने कहा—'मित्र, तुम्हारे अण्डे से मयूर कैसे निकला? मेरे अण्डे में तो कुछ भी नहीं निकला" जिनदत्त ने उत्तर दिया—



एक दृढ विश्वासी मित्र मयूर के अण्ड का समुचित पोषण करके उचित समय पर मयूर के बच्चे का जन्म हो जाने पर उसका नृत्य देखकर प्रसन्न हो रहा है। और इसके विपरीत दूसरा अविश्वासी मित्र सशय सहित मयूर के अण्डेका बारम्बार हिलाकर उसको निर्जीव करके मयूरका जन्म न होने पर घोर पश्चात्ताप प्रकट कर रहा है।

भाई, प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए धैर्य और विश्वास की आवश्यकता होती है। जिस कार्य के सम्पन्न होने में जितने समय की आवश्यकता है वह तो लगेगा ही। तुमने हथेली पर आम जमाना चाहा। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज तुम निराशा के शिकार हो रहे हो। मैं अधीर नहीं हुआ और सदेह को भी अपने हृदय में स्थान न दिया। इसी कारण मुझे सुन्दर मयूर की प्राप्ति हुई। सागरदत्त अपने उतावले स्वभाव का बहुत पश्चात्ताप करने लगा।

सागरदत्त की भांति जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्ररूपित सामायिक, पौषध, दया, उपवास, संवर, त्याग, साधुविरति, श्रावकधर्म आदि द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम फलों पर विश्वास न रखकर अपने हृदय में संदेह को स्थान देते हैं वे इन महान् कार्यों का वास्तविक फल नहीं प्राप्त कर सकते। वे इस प्रकार सोचते हैं—मैं इस संयम तथा चारित्र का सेवन कर रहा हूँ, अपने शरीर को तरह-तरह की तपस्याओं द्वारा सुखा रहा हूँ, नित्य आवश्यक क्रिया करता हूँ, इन सब क्रियाओं का फल मुझे भविष्य में मिलेगा या नहीं? कहीं ऐसा तो न होगा कि प्राप्त भोगोपभोगों का त्याग कर दूँ और स्वर्ग मोक्ष आदि की भी प्राप्ति न हो! ऐसे लोग सर्वज्ञ वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट मार्ग में शंका रखकर

या तो दूसरों की देखादेखी या धार्मिक समाज में प्रतिष्ठा की प्राप्ति करने के लिए अथवा दूसरों की दृष्टि में अपना ऊँचा स्थान बनाने के उद्देश से—लोक रंजन के लिए अनेक प्रकार की कायिक क्रियाएँ करते हैं, किन्तु विशुद्ध भावना हीन एवं शल्य सहित होने के कारण ये क्रियाएँ आत्म-कल्याण साधक नहीं होतीं। क्योंकि संशय, सम्यक्त्व का घातक है, सम्यक्त्व के आठ मलों में वह सबसे पहला मल है जो सम्यक्त्व को सड़ा डालता है। सम्यक्त्व के बिना की हुई क्रियाएँ मुक्ति का नहीं, किन्तु संसार का कारण होती हैं। कहा भी है—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्त चेतना।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वग्रस्त चेतना।

अर्थात्—मिथ्यादृष्टि, मनुष्य होने पर भी पशु के समान है और सम्यग्दृष्टि पशु होने पर भी मनुष्य के समान है।

वास्तव में जो श्रद्धाहीन है, जिसे अपने निर्दिष्ट सम्यक् पक्ष पर भी विश्वास नहीं है वह अस्थिर-चित्त हो जाता है। वह किसी महान् लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। जरा-जरा सी कठिनाइयां उसे पथभ्रष्ट बना देती हैं। वह न इधर का रहता है, न उधर का। वह अपने महत्वपूर्ण मानव जीवन को व्यर्थ ही गँवा देता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने सर्वप्रथम विशुद्ध श्रद्धा पर बल दिया है। यही

आध्यात्मिक विकास का मूल है। जिसका मूल ही सड़ा गला होगा वह सफल कैसे बन सकता है? अतएव जो भव्य प्राणी अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम अपनी श्रद्धा सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाना चाहिए।

सागरदत्त की भांति शंकाशील मनुष्य-प्राणी शुभ फल से हाथ धो बैठता है।

हृदय विशुद्धि के बिना क्रियाएँ करने में मन नहीं लगता और मन की संलग्नता के बिना की जाने वाली कोरी क्रियाएँ निष्फल होती हैं। माला के मनके गिनने से या छापा तिलक लगा लेने से ही सिद्धि का कोई अधिकारी नहीं बन सकता। सिद्धि का अधिकारी वही हो सकता है जो मानसिक पवित्रता के साथ वीतरागोपदिष्ट धर्म क्रिया करता है, सर्वज्ञ-प्ररूपित तत्त्वों को यथार्थ रूप में समझकर उनपर अगाढ़ श्रद्धा की भावना रखता है, जिसके हृदय में संदेह या कामना को जगह नहीं है और जो फल के लिए अधीर नहीं बनता। ऐसा किये बिना आत्मसुख कदापि नहीं प्राप्त होता।

हाँ, श्रद्धा के सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय अवश्य है। जिस श्रद्धा में विवेक को कोई स्थान नहीं होता, जो मूढ़तापूर्वक की जाती है वह सुफलप्रद नहीं होती। सत्य श्रद्धा विवेकपूर्ण और परीक्षापूर्वक होती है। आज कल

जितने लोग श्रद्धामात्र को अंधश्रद्धा कह कर उसके प्रति उपेक्षा का भाव व्यक्त करते हैं और प्रत्येक विषय को तर्क की कसौटी पर कसने का समर्थन करते हैं। पर श्रद्धाशून्य तर्क नास्तिकता को जन्म देता है। तर्क एक तीक्ष्ण तलवार के समान है जिससे विध्वंस ही विध्वंस होता है, सृष्टि नहीं, अर्थात् वह खण्डनात्मक होता है, मण्डनात्मक नहीं। इसके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह कि तर्क की तराज़ू बहुत मोटी है, उस पर सूक्ष्म तत्त्व तोले नहीं जा सकते। ऐसे अनेक विषय हैं जहां तर्क का प्रवेश हो ही नहीं सकता। उन्हें कोई तर्क से सिद्ध करना चाहे तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। ऐसी हालत में वह उन तत्त्वों का अपलाप कर देगा। यह अपलाप सत्य का अपलाप होगा। अपनी मौजूदा परिस्थिति में हम सब कुछ जान सकते हैं और जो हम नहीं जान पाते वह है ही नहीं, इस प्रकार का अभिमान भयंकर भूल की भित्ति पर निर्भर है। यह अहंकार मानव समाज के ज्ञान सम्बन्धी विकास को रोकने वाला और सत्य के विरुद्ध है।

यही कारण है कि प्रत्येक धर्म में श्रद्धा को प्रमुख स्थान दिया गया है और तर्क को अपरिपूर्ण बताया गया है। धर्म शास्त्र यहां तक कहता है—'सद्दहमाणो जीवो पावइ अयरामरं ठाणं' अर्थात् एकनिष्ठ श्रद्धा रखने वाला जीव

अपने अन्तिम लक्ष्य (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है। जिन्होंने मनोविज्ञान और मानसोपचार शास्त्र का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि श्रद्धा का कितना जबर्दस्त माहात्म्य है। श्रद्धाहीन मनुष्य का जीवन डांवाडोल रहता है, उसके जीवन में एकनिष्ठता नहीं होती, समस्त शक्ति लगाकर अपने ध्येय को सिद्ध करने के लिए वह प्राणपण से प्रयत्न नहीं करता। वह पतन की ओर उन्मुख होता है।

दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि तर्क एक वेश्या के समान है और श्रद्धा कुलवधू के समान है। वेश्या अपने प्रत्येक आश्रयदाता का मनोरंजन करती है। वह उसकी भावना के अनुसार व्यवहार करती है और उसे संतुष्ट रखती है। इसी प्रकार तर्क भी प्रत्येक तार्किक की भावना के अनुकूल अर्थ को उपस्थित कर उसे संतुष्ट करने का प्रयास करती है और उसकी मानसिक प्रसन्नता का कारण बनती है। वेश्या सत्-असत् का खयाल नहीं रखती और तर्क भी सत् असत् का खयाल छोड़कर तार्किक की मनोभावना के अनुकूल परिणत होती है। श्रद्धा, कुलवधू के समान अपने स्वामी अर्थात् श्रद्धालु को मर्यादा में स्थिर रखती है, नियत पथ पर डटे रहने की प्रेरणा करती है और उसके विकास में सहायक होती है।

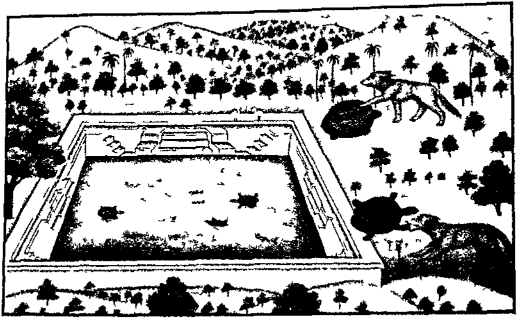
श्रद्धा का आधार ज्ञानी जनों के वह अनुभव हैं

चतुर्थ अध्याय

वाराणसी (बनारस) नगरी अपनी पवित्रता के लिए जगत् विख्यात है। भगवान् सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की यह जन्मभूमि है। कुछ लोगों का कहना है कि काशी में प्राण त्यागने से मुक्ति मिलती है। इस कथन की सत्यता असत्यता पर हमें यहां विचार नहीं करना है। सच तो यह है कि मनुष्य की मनोभावना ही बंध और मुक्ति का कारण होती है। अन्य लोगों ने भी इसे स्वीकार किया है। कहा है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

अपनी मनोभावना के अनुसार मनुष्य प्रवृत्ति करता है और उसी से शुभ एवं अशुभ फल पाता है। कोई बाहरी पदार्थ सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं है। फिर उल्लिखित कथन से काशी की प्रशंसा ही सिद्ध होती है। यह कथन अर्थवाद (प्रशं-



सरोवर से निकले हुए इन दो कछुओं पर शृगालों द्वारा आक्रमण होते ही एक कछुआ तो अपने अंगोपाङ्गों को सिकोड़ कर अपनी प्राण-रक्षामें तत्पर है। और दूसरा कछुआ अंगोपाङ्गों को फैलाए रखनेके कारण शृगालके आक्रमण द्वारा मृत्युके मुँहमें प्रवेश कर रहा है।

और उसी समय उन्होंने घोषणा कर दी कि—थावच्चा-कुमार दीक्षा ले रहा है। उसके साथ जो भी मुमुक्षु दीक्षा धारण करना चाहे उसके परिवार के भरणपोषण करने के लिए मैं तैयार हूँ।

यह घोषणा सुनकर थावच्चाकुमार के साथ दीक्षा धारण करने के लिए १००० पुरुष तैयार हो गए। श्रीकृष्ण महाराज ने उन सबकी दीक्षा का महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया और अत्यंत उत्साह के साथ उन्हें भगवान् नेमिनाथ के पास लाए। भगवान् के सामने उपस्थित होकर दीक्षाभिलाषियों ने अपने-अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतारे और साधु का पुनीत वेष धारण कर दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। भगवान् ने उन्हें निर्ग्रन्थ दीक्षा में दीक्षित किया और संयम के नियमोपनियम भली-भांति समझाकर उन्हें दृढ़तापूर्वक पालन करने का आदेश दिया।

महाराज श्रीकृष्ण और सेठानी वापस लौट आए। थावच्चाकुमार ने भगवान् की सेवा में रहकर निरंतर अध्ययन, चिन्तन और मनन करके १४ पूर्व का ज्ञान सम्पादन किया और अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए संयम की विशिष्ट साधना करने लगे।

एक बार थावच्चाकुमार मुनि ने पृथक् विहार करने

हूँ। अतएव अनुग्रह करके मुझे श्रावकव्रत प्रदान करें। मुनिराज ने उन्हें श्रावक के व्रत प्रदान किये। साथ-साथ में पथक वगैरह पाँचसौ राजकर्मचारियों ने भी श्रावक व्रत धारण किया।

उसी समय सौगन्धिक नामक एक और प्रसिद्ध नगर था। उस नगर में सुदर्शन नामक सेठ रहता था। वह अपरिमित सम्पत्ति का स्वामी और नामी था। उसे 'नगर सेठ' का प्रतिष्ठित पद राज्य की ओर से प्राप्त था। वह बहुत सरल स्वभावी और दयालु था।

उसी समय शुक नामक एक प्रसिद्ध चारों वेदों के ज्ञाता और सांख्य मत के उपासक सन्यासी अपनी शिष्य-मंडली समेत अनेक नगरों में भ्रमण करते हुए और पंच यम नियम से युक्त शुचि धर्म, दान धर्म तीर्थाभिषेक आदि का उपदेश करते हुए सौगंधिक नगर में पधारे। उनका आगमन सुनकर सांख्य मतानुयायी उपदेश सुनने को पहुँचे। सुदर्शन सेठ भी उनका उपदेश सुनने को गए। सन्यासीजी ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा— "हे सुदर्शन, समस्त धर्मों में शुचिधर्म प्रधान धर्म है। शुचि दो प्रकार की है, (१) द्रव्य शुचि (२) भाव शुचि। मिट्टी और पानी से जो शुचि की जाती है उसे द्रव्य शुचि कहते हैं। यदि किसी प्रकार की बाह्य अशुद्धि हो जाती है तो उसकी

की इच्छा प्रदर्शित कर भगवान् से आज्ञा मांगी। प्रभु ने कहा—जिससे सुख हो वही करो।

भगवान् के इन संक्षिप्त और स्वीकृतिसूचक शब्दों को सुनकर धावर्चाकुमार मुनि अपने शिष्यों के साथ विहार के लिए निकले। उन्होंने अनेक ग्रामों एवं नगरों आदि में विहार कर पथभ्रष्ट जीवों को सन्मार्ग बताया, अज्ञान जनों को ज्ञान दान दिया, धर्म का उद्योत किया और अनेक भव्य जीवों को मुक्ति के मार्ग में लगा दिया। इस प्रकार मंगलमय धर्म का मर्म मुमुक्षुओं को समझाते हुए मुनिराज सेलगपुर नामक नगर के सुभूमि नामक बगीचे में आए। राजा सेलग वहां न्याय नीति से प्रजा का शासन कर रहा था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। ज्येष्ठपुत्र मण्डूक युवराज पद से विभूषित था। महाराज का पंथक नामक प्रधानमंत्री, राजनीति में निपुण और धार्मिक था।

मुनि के शुभागमन का वृत्तान्त सुन राजा अपने मंत्रियों के साथ धर्मदेशना सुनने गया। मुनि महाराज ने धर्म का सुन्दर उपदेश दिया जिसे सुनकर राजा अत्यन्त आह्लादित हुआ। उसने मुनिराज से प्रार्थना की—गुरुदेव, मैं कुछ व्रत नियम ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हूँ, किन्तु साधु दीक्षा ग्रहण करने में असमर्थ

हूँ। अतएव अनुग्रह करके मुझे श्रावकव्रत प्रदान करें। मुनिराज ने उन्हें श्रावक के व्रत प्रदान किये। साथ-साथ में पथक वगैरह पाँचसौ राजकर्मचारियों ने भी श्रावक व्रत धारण किया।

उसी समय सौगन्धिक नामक एक और प्रसिद्ध नगर था। उस नगर में सुदर्शन नामक सेठ रहता था। वह अपरिमित सम्पत्ति का स्वामी और नामी था। उसे 'नगर सेठ' का प्रतिष्ठित पद राज्य की ओर से प्राप्त था। वह बहुत सरल स्वभावी और दयालु था।

उसी समय सुक नामक एक प्रसिद्ध चारों वेदों के ज्ञाता और सांख्य मत के उपासक सन्यासी अपनी शिष्य-मण्डली समेत अनेक नगरों में भ्रमण करते हुए और पंच यम नियम से युक्त शुचि धर्म, दान धर्म तीर्थाभिषेक आदि का उपदेश करते हुए सौगंधिक नगर में पधारे। उनका आगमन सुनकर सांख्य मतानुयायी उपदेश सुनने को पहुँचे। सुदर्शन सेठ भी उनका उपदेश सुनने को गए। सन्यासीजी ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा— "हे सुदर्शन, समस्त धर्मों में शुचिधर्म प्रधान धर्म है। शुचि दो प्रकार की है, (१) द्रव्य शुचि (२) भाव शुचि। मिट्टी और पानी से जो शुचि की जाती है उसे द्रव्य शुचि कहते हैं। यदि किसी प्रकार की बाह्य अशुद्धि हो जाती है तो उसकी

शुचि पानी और मिट्टी के द्वारा रक्खी जाती है। इसी प्रकार जलाभिषेक आदि से आत्मा पवित्र होकर स्वर्ग को प्राप्त करता है।"

सन्यासी के इस उपदेश को सुनकर सुदर्शन सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनके समीप सांख्य मत को धारण किया। बड़ी श्रद्धा से सन्यासीजी को अपने घर ले गया और उसने श्रद्धापूर्वक भोजन पान आदि से उन का उचित आदर सत्कार किया। सन्यासीजी कुछ समय तक ठहर कर प्रस्थान कर गए।

तदनन्तर मुनिराज विहार करते हुए अपने शिष्य-समुदाय के साथ सौगन्धिक नगर में पहुँचे। नगर की धर्म प्रिय जनता उनकी धर्मदेशना श्रवण करने के लिए उमड पडी। सांख्यमतावलम्बी सुदर्शन सेठ भी मुनिराज का उपदेश सुनने गया।

एक सांख्यमतावलम्बी का जैन मुनि के उपदेश को सुनने के लिए जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जो सच्चा मुमुक्षु है वह सदा सत्य का अन्वेषण करता रहता है। जब तक उसे परम सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक वह अपने परिश्रम से कभी विश्रांत नहीं होता। वह शांति के साथ विविध मन्तव्यों को श्रवण करता है और विवेक की कसौटी पर उन्हें कसता है। आत्मकल्याण की कामना

कर रहा है ? आत्मा के साथ कर्मों का क्यों और कैसे बंध होता है ? उन बन्धनों से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ? भगवान् के इस मर्मस्पर्शी सदुपदेश का श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। अनेकों ने संयम-धारण करने का संकल्प किया और अनेकों ने अनेक प्रकार के व्रत आदि ग्रहण किये।

थावच्चाकुमार पर भी भगवान् के उपदेश का तीव्र प्रभाव हुआ। वह उसी समय संसार से विरक्त हो गया। विषय, विष के समान और सांसारिक सुख, दुःख के समान उसे प्रतीत होने लगे। वह वहां से अपनी माता के पास आया और कहने लगा—

"माताजी, असीम संकट रूपी सलिल से परिपूर्ण इस निकृष्ट संसार-सागर में पड़कर मैं क्लेश का पात्र नहीं बनना चाहता। मैं समस्त दुःखों का अंत करने वाली निर्ग्रन्थ दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ। मैं अपनी आत्मा के उद्धार का यह सुअवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहता। अब संसार से मुझे ऐसी विरक्ति हो गई है कि एक-एक पल कल्पकाल के समान जान पड़ता है। अतएव आप कृपा कर शीघ्र ही आज्ञा प्रदान करें— विलम्ब न लगावें।"

माता ने पुत्र के इस प्रस्ताव को कलेजा थाम कर

सुना। उसे मर्मभेदी चोट पहुँची। उसने संयम-मार्ग में आने वाली विविध कठिनाइयों का उल्लेख करके और तरह तरह के अविचारितरम्य प्रलोभन देकर कुमार के दीक्षा सबंधी सकल्प को स्थगित करना चाहा। परंतु कुमार का सङ्कल्प सुमेरु की तरह अटल था। वह जरा भी चचल न हुआ। माता का अनुनय वृथा हुआ। तब अंत में उसने अपने पुत्र की दीक्षा की तैयारी करने की समस्त व्यवस्था कर ली।

वह महाराज श्रीकृष्ण के पास जाकर बोली—प्रजानाथ! मेरा एकलौता पुत्र है। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। वह प्रभु का उपदेश सुन संसार से विरक्त हो गया है और संयम धारण करना चाहता है। इससे मुझे अतीव कष्ट हो रहा है। पर विवश हूँ—अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी वह अपने प्रण से विचलित नहीं होता है। यद्यपि मन नहीं मानता फिर भी दीक्षा की तैयारी कर रही हूँ। मुझे आपके छत्र, चँवर वगैरह की आवश्यकता है। इन्हें प्रदानकर अनुग्रह कीजिए।

श्रीकृष्ण ने सान्त्वनापूर्ण शब्दों में कहा—'माता, आप किसी प्रकार का कष्ट न मानें। आप मेरी प्रजा हैं और प्रजा की पीड़ा का प्रतीकार करना पृथिवीपाल का

परम कर्त्तव्य है। मैं आपके प्रिय पुत्र को समझाऊँगा। वह मान गया तो ठीक है अन्यथा मैं स्वयमेव उसकी दीक्षा का महोत्सव करूँगा।'

माता को यह आश्वासन देकर श्रीकृष्ण महाराज उसके पुत्र के समीप आए और बोले—"कुमार, दीक्षा एक उत्कृष्ट आत्मोद्धार का पथ है, पर तुम्हारी आयु अभी उसके योग्य नहीं है। इस समय ससार के सुखों का उपभोग करो। अभी भाति भाति के भोगोपभोगों को भोगते हुए अपनी भार्याओं का भरणपोषण करो। गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपनी माता को सतुष्ट करो। हाँ, मेरे राज्य मे रहते हुए यदि तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट हो तो मुझे बताओ। मैं उसका निवारण कर तुम्हें सुखी बनाने का प्रयास करूँगा।"

महाराज श्रीकृष्ण का सहानुभूतिपूर्ण कथन सुन कुमार ने कहा—'महाराज! मै अत्यन्त आभारी हूँ कि आपने मेरी चिन्ता दूर कर दी है। सचमुच मुझे बहुत कष्ट हैं और इन्हीं कष्टों से घबडाकर मैं सयम का आश्रय लेना चाहता हूँ। आपकी छत्र-छाया में रहते हुए मुझे किसी प्रकार का कष्ट न हो पाए, इसके अतिरिक्त मुझे और क्या चाहिए? नरनाथ, सुनिए मुख्य रूप से दो कष्ट मुझे अतिशय त्रास देते हैं। प्रथम तो यह कि वृद्धावस्था

शीघ्र ही आकर मेरे इस यौवन एवं रूपलावण्य को निगल जाने की ताक में है। और दूसरा कष्ट यह कि मेरे प्राणों का निकट शत्रु काल मुझे अपना कवल बनाने का सबल प्रयत्न कर रहा है। पता नहीं किस समय वह मुझ पर आक्रमण करके मेरा काम तमाम कर देगा। महाराज, आप सब तरह समर्थ हैं। कृपा कर इन शत्रुओं से रक्षा करने की प्रतिज्ञा कीजिए और इन्हें नष्ट कर मेरा कष्ट निवारण कर दीजिए। तत्पश्चात् मैं आप के राज्य में आनन्दपूर्वक विषयोपभोग करूँगा। दीक्षा धारण करने का कभी नाम न लूंगा।'

कुमार की यह युक्तिपूर्ण बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—'कुमार, यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। यह कष्ट तो अष्ट कर्मों के नष्ट होने पर ही हट सकते हैं।'

कुमार—'महाराज, मैं इन्हीं कर्मों का संहार करने के लिए अनगार बनना चाहता हूँ। आप इस शुभ समारम्भ में क्यों बाधा डालते हैं?'

श्रीकृष्णजी कुछ समय मौन रहकर बोले—'यदि तुम्हारा यह संकल्प स्थिर है और तुमने इस सम्बन्ध में सब बात खूब सोच विचार ली है तो मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहता। मैं स्वयं ही तुम्हारे दीक्षामहोत्सव की व्यवस्था करता हूँ।'

श्रीकृष्ण महाराज यह कहकर राजसभा में आये

कर रहा है ? आत्मा के साथ कर्मों का क्यों और कैसे बंध होता है ? उन बन्धनों से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ? भगवान् के इस मर्मस्पर्शी सदुपदेश का श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। अनेकों ने संयम-धारण करने का संकल्प किया और अनेकों ने अनेक प्रकार के व्रत आदि ग्रहण किये।

थावर्चाकुमार पर भी भगवान् के उपदेश का तीव्र प्रभाव हुआ। वह उसी समय संसार से विरक्त हो गया। विषय, विष के समान और सांसारिक सुख, दुःख के समान उसे प्रतीत होने लगे। वह वहां से अपनी माता के पास आया और कहने लगा—

"माताजी, असीम संकट रूपी सलिल से परिपूर्ण इस विकट संसार-सागर में पड़कर मैं क्लेश का पात्र नहीं बनना चाहता। मैं समस्त दुःखों का अंत करने वाली निर्ग्रन्थ-दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ। मैं अपनी आत्मा के उद्धार का यह सुअवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहता। अब संसार से मुझे ऐसी विरक्ति हो गई है कि एक-एक पल कल्पकाल के समान ज्ञात पड़ता है। अतएव आप कृपा कर शीघ्र ही आज्ञा प्रदान करें—विलम्ब न लगावें।"

माता ने पुत्र के इस प्रस्ताव को कलेजा थाम कर

सुना। उसे मर्मभेदी चोट पहुँची। उसने संयम-मार्ग में आने वाली विविध कठिनाइयों का उल्लेख करके और तरह तरह के अतिचारितरम्य प्रलोभन देकर कुमार के दीक्षा संबंधी संकल्प को स्थगित करना चाहा। परन्तु कुमार का संकल्प सुमेरु की तरह अटल था। वह जरा भी चंचल न हुआ। माता का अनुनय वृथा हुआ। तब अंत में उसने अपने पुत्र की दीक्षा की तैयारी करने की समस्त व्यवस्था कर ली।

वह महाराज श्रीकृष्ण के पास जाकर बोली—प्रजानाथ! मेरा एकलौता पुत्र है। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। वह प्रभु का उपदेश सुन संसार से विरक्त हो गया है और संयम धारण करना चाहता है। इससे मुझे अतीव कष्ट हो रहा है। पर विवश हूँ—अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी वह अपने प्रण से विचलित नहीं होता है। यद्यपि मन नहीं मानता फिर भी दीक्षा की तैयारी कर रही हूँ। मुझे आपके छत्र, चँवर वगैरह की आवश्यकता है। इन्हें प्रदानकर अनुग्रह कीजिए।

श्रीकृष्ण ने सान्त्वनापूर्ण शब्दों में कहा—'माता, आप किसी प्रकार का कष्ट न मानें। आप मेरी प्रजा हैं और प्रजा की पीड़ा का प्रतीकार करना पृथिवीपाल का

परम कर्त्तव्य है। मैं आपके प्रिय पुत्र को समझाऊँगा। वह मान गया तो ठीक है अन्यथा मैं स्वयमेव उसकी दीक्षा का महोत्सव करूँगा।'

माता को यह आश्वासन देकर श्रीकृष्ण महाराज उसके पुत्र के समीप आए और बोले—"कुमार, दीक्षा एक उत्कृष्ट आत्मोद्धार का पथ है, पर तुम्हारी आयु अभी उसके योग्य नहीं है। इस समय संसार के सुखों का उपभोग करो। अभी भांति भांति के भोगोपभोगों को भोगते हुए अपनी भार्याओं का भरणपोषण करो। गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपनी माता को संतुष्ट करो। हाँ, मेरे राज्य में रहते हुए यदि तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट हो तो मुझे बताओ। मैं उसका निवारण कर तुम्हें सुखी बनाने का प्रयास करूँगा।"

महाराज श्रीकृष्ण का सहानुभूतिपूर्ण कथन सुन कुमार ने कहा—'महाराज! मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि आपने मेरी चिन्ता दूर कर दी है। सचमुच मुझे बहुत कष्ट हैं और इन्हीं कष्टों से घबड़ाकर मैं संयम का आश्रय लेना चाहता हूँ। आपकी छत्र-छाया में रहते हुए मुझे किसी प्रकार का कष्ट न हो पाए, इसके अतिरिक्त मुझे और क्या चाहिए? नरनाथ, सुनिए मुख्य रूप से दो कष्ट मुझे अतिशय त्रास देते हैं। प्रथम तो यह कि वृद्धावस्था

शीघ्र ही आकर मेरे इस यौवन एवं लावण्य को निगल जाने की ताक में है। और दूसरा कष्ट यह कि मेरे प्राणों का निकट शत्रु काल मुझे अपना कवल बनाने का सतत प्रयत्न कर रहा है। पता नहीं किस समय वह मुझ पर आक्रमण करके मेरा काम तमाम कर देगा। महाराज, आप सब तरह समर्थ हैं। कृपा कर इन शत्रुओं से रक्षा करने की प्रतिज्ञा कीजिए और इन्हें नष्ट कर मेरा कष्ट निवारण कर दीजिए। तत्पश्चात् मैं आप के राज्य में आनन्दपूर्वक विषयोपभोग करूँगा। दीक्षा धारण करने का कभी नाम न लूंगा।'

कुमार की यह युक्तिपूर्ण बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—'कुमार, यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। यह कष्ट तो अष्ट कर्मों के नष्ट होने पर ही हट सकते हैं।'

कुमार—'महाराज, मैं इन्हीं कर्मों का संहार करने के लिए अनगार बनना चाहता हूँ। आप इस शुभ समारम्भ में क्यों बाधा डालते हैं?'

श्रीकृष्णजी कुछ समय मौन रहकर बोले—'यदि तुम्हारा यह संकल्प स्थिर है और तुमने इस संबंध में सब बातें खूब सोच विचार ली हैं तो मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहता। मैं स्वयं ही तुम्हारे दीक्षामहोत्सव की व्यवस्था करता हूँ।'

श्रीकृष्ण महाराज यह कहकर राजसभा में आये

और उसी समय उन्होंने घोषणा कर दी कि—थावर्च्चा-कुमार दीक्षा ले रहा है। उसके साथ जो भी मुमुक्षु दीक्षा धारण करना चाहे उसके परिवार के भरणपोषण करने के लिए मैं तैयार हूँ।

यह घोषणा सुनकर थावर्च्चाकुमार के साथ दीक्षा धारण करने के लिए १००० पुरुष तैयार हो गए। श्रीकृष्ण महाराज ने उन सबकी दीक्षा का महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया और अत्यत उत्साह के साथ उन्हें भगवान् नेमिनाथ के पास लाए। भगवान् के सामने उपस्थित होकर दीक्षाभिलाषियों ने अपने-अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतारे और साधु का पुनीत वेष धारण कर दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। भगवान् ने उन्हें निर्ग्रन्थ दीक्षा से दीक्षित किया और सयम के नियमोपनियम भली-भांति समझाकर उन्हें दृढतापूर्वक पालन करने का आदेश दिया।

महाराज श्रीकृष्ण और सेठानी वापस लौट आए। थावर्च्चाकुमार ने भगवान की सेवा में रहकर निरंतर अध्ययन, चिन्तन और मनन करके १४ पूर्व का ज्ञान सम्पादन किया और अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए सयम की विशिष्ट साधना करने लगे।

एक बार थावर्च्चाकुमार मुनि ने पृथक् विहार करने

की इच्छा प्रदर्शित कर भगवान् से आज्ञा मांगी। प्रभु ने कहा—जिससे सुख हो वही करो।

भगवान् के इन संक्षिप्त और स्वीकृतिसूचक शब्दों को सुनकर थावर्चापुत्र मुनि अपने शिष्यों के साथ विहार के लिए निकले। उन्होंने अनेक ग्रामों एवं नगरों आदि में विहार कर पथभ्रष्ट जीवों को सन्मार्ग बताया, अज्ञान जनों को ज्ञान दान दिया, धर्म का उद्योत किया और अनेक भव्य जीवों को मुक्ति के मार्ग में लगा दिया। इस प्रकार भगलमय धर्म का मर्म मुमुक्षुओं को समझाते हुए मुनिराज सेलगपुर नामक नगर के सुभूमि नामक बगीचे में आए। राजा सेलग वहां न्याय नीति से प्रजा का शासन कर रहा था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। ज्येष्ठपुत्र मण्डूक युवराज पद से विभूषित था। महाराज का पंथक नामक प्रधानमंत्री, राजनीति में निपुण और धार्मिक था।

मुनि के शुभागमन का वृत्तान्त सुन राजा अपने मंत्रियों के साथ धर्मदेशना सुनने गया। मुनि महाराज ने धर्म का सुन्दर उपदेश दिया जिसे सुनकर राजा अत्यन्त आह्लादित हुआ। उसने मुनिराज से प्रार्थना की—गुरुदेव, मैं कुछ व्रत नियम ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हूँ, किंतु साधु दीक्षा ग्रहण करने में असमर्थ

हूँ। अतएव अनुग्रह करके मुझे श्रावकव्रत प्रदान करें। मुनिराज ने उन्हें श्रावक के व्रत प्रदान किये। साथ-साथ में पथक वगैरह पाँचसौ राजकर्मचारियों ने भी श्रावक व्रत धारण किया।

उसी समय सौगन्धिक नामक एक और प्रसिद्ध नगर था। उस नगर म सुदर्शन नामक सेठ रहता था। वह अपरिमित सम्पत्ति का स्वामी और नामी था। उसे 'नगर सेठ' का प्रतिष्ठित पद राज्य की ओर से प्राप्त था। वह बहुत सरल स्वभावी और दयालु था।

उसी समय सुक नामक एक प्रसिद्ध चारों वेदों के ज्ञाता और सांख्य मत के उपासक सन्यासी अपनी शिष्य-मंडली समेत अनेक नगरों में भ्रमण करते हुए और पच यत्र नियम से युक्त शुचि धर्म, दान धर्म तीर्थाभिषेक आदि का उपदेश करत हुए सौगंधिक नगर में पधारे। उनका आगमन सुनकर सांख्य मतानुयायी उपदेश सुनने को पहुँचे। सुदर्शन सेठ भी उनका उपदेश सुनने को गए। सन्यासीजी ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा– "हे सुदर्शन, समस्त धर्मों म शुचिधर्म प्रधान धर्म है। शुचि दो प्रकार की है, (१) द्रव्य शुचि (२) भाव शुचि। मिट्टी और पानी से जो शुचि की जाती है उसे द्रव्य शुचि कहते है। यदि किसी प्रकार की बाह्य अशुद्धि हो जाती है तो उसकी

शुचि पानी और मिट्टी के द्वारा रक्खी जाती है। इसी प्रकार जलाभिषेक आदि से आत्मा पवित्र होकर स्वर्ग को प्राप्त करता है।"

सन्यासी के इस उपदेश को सुनकर सुदर्शन सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनके समीप सांख्य मत को धारण किया। बड़ी श्रद्धा से सन्यासीजी को अपने घर ले गया और उसने श्रद्धापूर्वक भोजन पान आदि से उन का उचित आदर सत्कार किया। सन्यासीजी कुछ समय तक ठहर कर प्रस्थान कर गए।

तदनन्तर मुनिराज विहार करते हुए अपने शिष्य समुदाय के साथ सौगन्धिक नगर में पहुँचे। नगर की धर्म प्रिय जनता उनकी धर्मदेशना श्रवण करने के लिए उमड पड़ी। सांख्यमतावलम्बी सुदर्शन सेठ भी मुनिराज का उपदेश सुनने गया।

एक सांख्यमतावलम्बी का जैन मुनि के उपदेश को सुनने के लिए जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जो सच्चा मुमुक्षु है वह सदा सत्य का अन्वेषण करता रहता है। जब तक उसे परम सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक वह अपने परिश्रम से कभी विश्रांत नहीं होता। वह शांति के साथ विविध मन्तव्यों को श्रवण करता है और विवेक की कसौटी पर उन्हें कसता है। आत्मकल्याण की कामना

करनेवाला पुरुष मतमतवादी मोह के पाश से मुक्त होता है। सत्य जहा कहीं हो वही उसे ग्रहण करता है। पथ के पक्ष में पडा हुआ पुरुष परम सत्य के पथ मे पतित हो जाता है। सुदर्शन सेठ सच्चा सत्यान्वेषी था। वह जिस पथ पर चल रहा था उसमे उसका हृदय सतुष्ट न था। अतएव वह एक जैन मुनि के धर्मोपदेश को श्रवण करने के हेतु गया और उस उपदेश में उसे वह मिल गया जिसके लिए वह लालायित था। फिर भी उसने अपनी शकाओं का विशेष रूप से निराकरण करने के लिए उपदेश के अ त में मुनिराज से पूछा —

"महाराज, आप का मूल धर्म क्या है?" मुनि महाराज ने उत्तर दिया, "सुदर्शन! हमारा धर्म विनयमूल है और विनय दो प्रकार का है, एक तो श्रावक विनय और दूसरा साधु विनय।" श्रावक का विनय (धर्म) पाच अणुव्रत और सप्त शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का है। वह स्थूल रूप से एक देश हिंसादिक पापो का त्याग करता है।

साधु धर्म पच महाव्रत रूप है। साधु मन, वचन और काय से हिंसा नहीं करते, असत्य भाषण नहीं करते, किसी का द्रव्यहरण नहीं करते, काम सेवन नहीं करते और परिग्रह नहीं रखते।

इस प्रकार दो भेद स्वरूप विनय धर्म है। इन दोनों प्रकार के विनयमूल धर्म के पालन से जीव क्रमश: कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्राप्त करता है। जन्म, मरण के दुःखों से सदैव के लिए छुटकारा पाकर सिद्ध परमात्मा बन जाता है।

इस प्रकार श्रावक और साधुधर्म की विस्तृत रूप से समझाते हुए मुनि महाराज ने सुदर्शन से पूछा, "हे सुदर्शन, तेरा धर्म क्या है?" सुदर्शन ने उत्तर देते हुए कहा, "महाराज मेरा धर्म शुचिमूलक है और शुचि तीर्थस्नान तथा जलाभिषेक आदि से होती है।" सुदर्शन से इस प्रकार शुचिधर्म को सुनकर मुनि महाराज ने कहा, 'सुदर्शन' इस प्रकार जलादिक से तो केवल व्यवहार में शरीर शुद्धि हो सकती है, आत्मा का मैल-क्रोधादि कषाय-ऐसे शुचिधर्म से दूर नहीं हो सकते। जिस प्रकार रुधिर का कपड़ा रुधिर से साफ नहीं हो सकता, उसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, ममत्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि करते हुए केवल जलाभिषेक रूप शुचि से आत्मा कभी निर्मल नहीं हो सकता। आत्मा को पवित्र बनाने के लिए तो श्रावक धर्म और साधु धर्म का पालन करना पड़ेगा। तभी इस आत्मा का कषायादिक मैल दूर हो सकता है और आत्मा शुद्ध हो सकता है।"

मुनि महाराज द्वारा कहे गए इस उपदेश का सुदर्शन के हृदय पर बहुत ही प्रभाव पड़ा। उसने उनके द्वारा श्रावक धर्म को विशेष रूप से सुनकर और जैनधर्म की अलौकिकता पर मुग्ध होकर गृहस्थ धर्म को अंगीकार किया।

कुछ समय पश्चात् उन्हीं सन्यासी को सुदर्शन के जैन धर्म स्वीकार कर लेने का समाचार प्राप्त हुआ। वह उसे पुनः अपने धर्म में दृढ़ करने के लिए अपनी शिष्य मंडली सहित सौगन्ध की नगरी में आया और सुदर्शन को प्रतिबोधित करने के लिए उसने सुदर्शन के मकान की ओर प्रस्थान किया। सन्यासी को अपनी ओर आते देखकर भी न तो सुदर्शन उनके स्वागतार्थ सन्मुख गया और न किसी प्रकार का सत्कार तथा वंदन ही किया। तब सन्यासीजी स्वयं उसके घर आये और बोले, "हे सुदर्शन! तूने शुचि धर्म जैसे उत्तम धर्म को त्याग कर विनय मूल धर्म कैसे स्वीकार कर लिया?" सुदर्शन ने उत्तर दिया—"सन्यासी जी, यहा पर थावर्चा मुनि पधारे थे जिन्होंने अपने उपदेश में बतलाया कि जलादिक से आत्मा के पापों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। आत्म-शुद्धि तो अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कार्यों मे ही हो सकती है। वास्तव में उनका यह कथन बिल्कुल सत्य है, इसीलिए मैने उनके इस कथन को स्वीकार कर जैन धर्म ग्रहण किया है।" यह सुनकर सन्या-

सी ने कहा—"अच्छा, तुम्हारे वह साधु कहा है ?" इसके उत्तर में सुदर्शन ने कहा, "अभी वह यहीं पर विराजमान है।" तब सन्यासी ने कहा—"अच्छा, मैं तेरे उन साधु के पास चलकर उनसे वादविवाद करूँगा, उनसे, न्याय मीमांसा, सांख्य आदि विषयों पर प्रश्नोत्तर करूँगा, और उन्हें पराजित करूँगा। यदि वे मेरे प्रश्नों का समुचित रूप से उत्तर दे सकेंगे तो मैं उनका शिष्य बन जाऊँगा।" इस प्रकार कह कर सुदर्शन को साथ ले वह थावर्चा मुनि के समीप पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही सन्यासी ने निम्न प्रकार प्रश्न करना आरम्भ किया।

सन्यासी—मुनिजी तुम्हारे धर्म में कौनसी यात्रा है? क्या यज्ञ है? क्या अव्याबाध है? क्या प्रासुक विहार है?

मुनि—सन्यासीजी! हमारे धर्म में यात्रा, यज्ञ, अव्याबाध, प्रासुक विहार सब कुछ है।

सन्यासी—तुम्हारे धर्म में जो यज्ञ यात्रादि हैं वे कौनसे हैं? उनका स्पष्टीकरण करें।

मुनि—सन्यासीजी! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम में यत्न रखना ही हमारे धर्म में यात्रा है अर्थात् सम्यक् ज्ञान पूर्वक सम्यक् श्रद्धा से सम्यक्चारित्र में रमण करना ही यात्रा है।

सन्यासी—यज्ञ कौनसा है?

मुनि—यज्ञ दो प्रकार के हैं—एक तो इन्द्रिय यज्ञ और दूसरा नो इन्द्रिय यज्ञ। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श इन्द्रिय के राग द्वेष उत्पादक विषय का दमन करने को इन्द्रिय यज्ञ कहा है और क्रोध, मान, माया, लोभ के नष्ट करने को नो इन्द्रिय यज्ञ कहा है।

सन्यासी—मुनिजी, अव्याबाध किसे कहते हैं?

मुनि—सन्यासीजी, वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि रोगों का जब तक प्रकोप नहीं होता तब तक शारीरिक अव्याबाध है और सर्व कर्म नष्ट होने पर प्राप्त हुआ अबाध सुख आत्मिक अव्याबाध है। इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक और पौद्गलिक है। उसे ही पूर्ण रूप से अव्याबाध आत्मिक सुख मान लेना मिथ्या कल्पना है। इससे आत्मा के मुक्त होने में बाधा उपस्थित हो जाती है, इसलिए वास्तविक अव्याबाध कर्म रहित मोक्ष सुख ही है।

सन्यासी—मुनिजी, प्रासुक विहार किसे कहते हैं?

मुनि—सन्यासीजी, बाग-बगीचों के मकानों में अथवा शून्य अनैमित्तिक गृहों में स्त्री, नपुंसक, पशु आदि के संसर्ग से रहित निवास करने को प्रासुक विहार कहते हैं।

सन्यासी—मुनिजी, 'सरि सवया' खाने योग्य हैं या नहीं?

मुनि—सरि सवया दो प्रकार के हैं—भक्ष्य और

अभक्ष्य।

सन्यासी—सो कैसे ?

मुनि—एक तो मित्र सरिस मसया (मित्र सदृश-वया, बराबर उम्र का) और दूसरे धान्य सरिस वया (धान्य सरसम—सरसों)। मित्र सदृश वया तीन प्रकार के हैं।

(१) साथ उत्पन्न हुए (२) साथ में बड़े हुए (३) साथ में खेले हुए। ये सब अभक्ष्य हैं।

धान्य सम दो प्रकार के हैं—

(१) सचित्त सरसव—जीव सहित

(२) अचित्त—जीव रहित

इनमें से सचित्त तो अभक्ष्य है और अचित्त दो प्रकार के हैं—

(१) प्रासुक—साधु के निमित्त नहीं बनाया हुआ।

(२) अप्रासुक—साधु के लिए बनाया हुआ।

इनमें से अप्रासुक—अभक्ष्य है। प्रासुक दो प्रकार का है।

(१) याचना करने पर दिया हुआ।

(२) याचना बिना दिया हुआ।

याचना करने पर दिये हुए एषणिक और अनेषणिक दो प्रकार के हैं। इनमें से अनेषणिक अभक्ष्य हैं। एषणिक के दो भेद हैं—

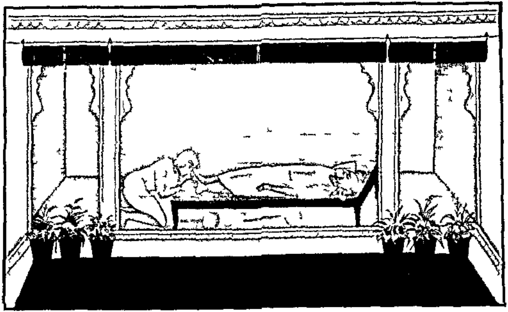
मैं एक भी हूँ, दो भी हूँ, अनेक भी हूँ। अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित भी हूँ और अनेक भूत भाव भावित भी हूँ।"

फिर शुक्जी ने प्रश्न किया, "मुनिजी आप एक, दो और अनेक आदि कैसे हैं ?"

मुनिजी ने उत्तर दिया—आत्मा की अपेक्षा से मैं एक हूँ। ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से मैं दो हूँ, प्रदेशों की अपेक्षा अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हूँ, क्योंकि प्रदेशों का नाश, शस्त्र, अग्नि जल विष आदि कोई भी नहीं कर सकते। उपयोग की अपेक्षा से अनेक भूत के भावों को जानने वाला भी हूँ।

इस प्रकार प्रश्नोत्तरों से सन्यासी बहुत प्रसन्न हुए। सन्यासीजी का उद्देश्य मुनि महाराज को प्रश्नों के चक्कर में डालकर किसी प्रकार से पराजित करने का था, किन्तु जिस के पास प्रतिभा और सत्य है वह कभी पराजित नहीं हो सकता।

मुनि महाराज की सत्यता का सन्यासी पर बड़ा विलक्षण प्रभाव पड़ा। उनका हृदय मुनि की भक्ति से भर गया। उनके सत्य ज्ञान से प्रबोधित होकर उन्हें विनयपूर्वक नमस्कार कर बोले—'महाराज, आपने मेरे हृदय के अन्धकार को दूर कर मेरे नेत्र खोल दिये। अब केवली प्रभाषित सिद्धान्त का उपदेश देकर मेरे हृदय



प्रमाद-ग्रसित श्री शैलक राजर्षि को उनके सुयोग्य शिष्य श्री पंथक मुनि
आवश्यक-क्रिया के लिए वन्दन कर रहे हैं।
[चित्र केवल परिचयार्थ]

से तृप्त कीजिए।" थावर्च्चा मुनि ने सन्यासी को प्रतिबोधित हुए देखकर जैन सिद्धान्त के अनुसार श्रावक धर्म और मुनि धर्म का विशद रूप से विवेचन किया। मुनिराज से धर्मोपदेश को सुनकर उनका हृदय आनन्द की लहरों मे लहराने लगा। उनकी आत्मा में आनन्द का प्रवाह बहने लगा। उनका हृदय जैन धर्म की भक्ति से भर गया। वे अपने भावों को न रोक सके और बोले—"महाराज, आप के उपदेश से मेरा मन जैन धर्म की श्रद्धा से भर गया है। मुझे ज्ञात हो गया है कि आत्मा का सच्चा हित करनेवाला केवल जैन धर्म ही है। इसीके द्वारा मनुष्य दु:ख से छुटकारा पाकर सच्चे सुख को प्राप्त कर सकते है। स्वामिन्, मैं भी जैन धर्म की शरण में रह कर आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। कृपया, मेरी शिष्य - मंडली समेत मुझे संयम की दीक्षा दीजिए। यह प्रार्थना सुनकर मुनि महाराज ने उन्हें संयम की दीक्षा दी। दीक्षा लेने के पश्चात् सुक मुनि ने ज्ञान का पूर्ण संलग्नता से अभ्यास किया और चौदह पूर्व तक का पठन कर लिया।

थावर्च्चा मुनि ने कुछ काल तक धर्मोपदेश देते हुए अपने संयमी जीवन को ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण में मग्न रखा और अन्त में मुनियों के साथ पुण्डरीक पर्वत पर समाधिमरण धारण कर अष्ट कर्मों का नाश करते हुए

मोक्ष को प्राप्त किया।

एक समय शुक मुनि अनेक नगरों में विहार करते हुए मेलगपुर पधारे। उन्होंने जैन धर्म का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जिसे सुनकर राजा मेलग के हृदय में वैराग्य-भाव उत्पन्न हुए। उन्होंने अपनी राजसभा में आकर अपने प्रधान मंत्री पंथक तथा ४९९ सहमंत्रियों पर अपने भाव प्रकट किए। राजा के वास्तविक हित के अनुकूल परामर्श देना मंत्री का कर्त्तव्य है। जो मंत्री किसी प्रकार के स्वार्थ या पक्षपात अथवा अन्य किसी कारण के वश होकर अपने स्वामी को उचित परामर्श नहीं देता वह विश्वासघाती कहलाता है। राजा सेलग के मंत्री न्यायनिष्ठ और उचित अनुचित के विवेकी थे। उन्होंने राजा के विचारों का अनुमोदन करते हुए कहा—'महाराज, आपका विचार सराहनीय है। हम लोग भी आपके साथ ही निर्ग्रंथ दीक्षा धारण कर इस प्रपंचमय जीवन का परित्याग कर एकान्त शांति और अध्यात्म जीवन को अपनाना चाहते हैं।'

इस प्रकार मंत्रियों का अनुमोदन पाकर राजा मेलग ने अपने पुत्र मंडूक को पास बुलाया और कहा—बेटा, संसार के इस रंगमंच पर मैंने पर्याप्त समय तक अभिनय किया है। अब मैं इससे उकता गया हूँ और विश्रान्ति लेना चाहता हूँ। संसार में पुत्र, पिता का प्रतिनिधि माना जाता

है, अतएव तुम मेरे एक तरह से प्रतिनिधि या उत्तराधिकारी हो। योग्य पुत्र का यह कर्त्तव्य ही है कि वह वयस्क होकर पिता का भार अपने कंधों पर धारण करे और पिता को जीवन के एक महान् उच्च उद्देश की सिद्धि के लिए निश्चित अवसर प्रदान करे। मैने तुम्हें सब प्रकार से योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। तुम मेरे भार को सभालो। मुझे छुट्टी दो। मै इस राज्य को परित्याग कर दूसरे राज्य की प्राप्ति के लिए आत्मा में छिपे हुए अत्यन्त भयकर और प्रबल रिपुओं से युद्ध ठानूगा। मेरा वह राज्य असीम और अनत होगा। उसमें एकात सुख ही सुख है। वही राज्य आत्मा का स्वरूप है। तुम न्याय से प्रजा का पुत्रवत् पालन करना। दुखियों के दु ख को दूर करना। ऐश्वर्य पाकर भी अपने को ऐसी स्थिति में रखना कि दीन जनों की हालत को तुम भली भाँति अनुभव कर सको। राज मद में मत्त न बन जाना और अपने पूर्वजों की कीर्तिपताका को सदा की भाँति फहराते रहना। स्मरण रखना, प्रजा का सच्चा स्वामी वही हो सकता है जो प्रजा का सच्चा दास बनता है।

इस प्रकार प्रासंगिक उपदेश देने के बाद आनन्द के साथ उसका राज्याभिषेक कर दिया।

पुत्र ने पिता के पवित्र मनोरथ पर पानी फेरना उचित

न समझा। उसने प्रसन्नतापूर्वक आत्मकल्याण में प्रवृत्त होने की अनुमति दे दी। अत्यन्त समारोह के साथ उसने पिता के दीक्षा महोत्सव की तैयारी की। राजा सेलग ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की और मुनि के मूल और उत्तर गुणों का सावधानी से पालन करने लगे। निरन्तर ज्ञानोपार्जन में संलग्न रह कर उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और तीव्र तपश्चर्या एवं गुरु भक्ति करते हुए संयम में विचरने लगे।

कुछ समय के पश्चात् सुक मुनि ने अपना अन्तिम समय आया जान कर पुण्डरीक पर्वत पर संथारा धारण किया और आत्मध्यान में निमग्न हो, समस्त कर्मों का समूल नाश कर मुक्ति प्राप्त की।

राजर्षि सेलग कठोर तपश्चरण में तल्लीन रहते थे। रूखा सूखा, जैसा भी भोजन मिलता उसे समतापूर्वक ग्रहण करते थे। शयन और आसन के लिए कँकरीली पथरीली नंगी जमीन मिलती उसी पर संतोष करते थे। इस प्रकार उन्होंने समस्त इन्द्रियों का अपने अधीन कर लिया था। किंतु इस तीव्रतर तपश्चर्या के कारण, राजसुख की गोद में पला हुआ उनका सुकोमल शरीर स्वस्थ न रह सका। उन्हें पित्त ज्वर और खुजली का रोग हो गया। राजर्षि ने शरीर की इन वेदनाओं की परवा न की। वे आत्मा और शरीर

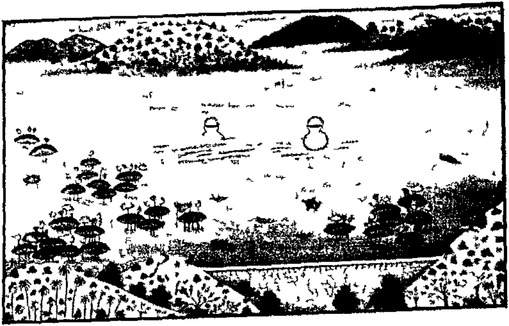
के विवेक को भलीभांति अवगत कर चुके थे। आत्मा में निरन्तर लीन रहते थे। शरीर को संभालने का उन्हें अवकाश ही न था। अतएव वे शरीर के प्रति उपेक्षा भाव रखते हुए अनेक ग्रामों एवं नगरों में विहार करते हुए अहिंसा धर्म का प्रबल प्रचार करने लगे। उनके संयम की साधना में कुछ भी बाधा उपस्थित न हुई। विहार करते करते वे एक बार सेलगपुर पधारे।

राजर्षि के शुभागमन का संवाद बात की बात में विद्युतगति से नगर भर में फैल गया। नगर की समस्त जनता अतीव भक्तिभाव से उनके धर्मोपदेश को श्रवण करने एवं दर्शन से जीवन को सफल बनाने के लिए पहुँची। राजा मण्डूक भी राजर्षि की सेवा में पहुँचे। धर्मदेशना सुनने के अनन्तर रोग पीडित शरीर को देखकर बोले—मुनिवर! आप अनुग्रह कर नगर में पधारिये, जिससे आप के इन वेदनाप्रद रोगों की चिकित्सा हो सके। शरीर, धर्म का एक साधन है। इसके अस्वस्थ होने से धार्मिक कार्यों में भी विघ्न पड़ता है। हम लोग आपकी यत् किन्चित् सेवा करके ही अपना अहोभाग्य समझेंगे। कृपया इस प्रार्थना को अंगीकार कर उपकृत कीजिए।

राजा मण्डूक की आग्रहपूर्ण अभ्यर्थना स्वीकार कर मुनिराज ने नगर में प्रवेश किया। नगर में उनका उचित

शिष्य पथक हूं। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की अभिलाषा में खमाने के लिए श्रीमान् की सेवा में उपस्थित हुआ था। कृपया मेरा अपराध क्षमा कीजिए। अब कदापि ऐसी भूल न करूँगा।" शिष्य के विनय, शांति आदि गुणों का गुरु के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। पल भर में ही उनकी आत्मा में विलक्षण परिवर्त्तन हो गया। वह सोचने लगे— 'अहा! विशाल राज्य का परित्याग कर मैंने मुनि के महान् गौरवपूर्ण पद को धारण किया है इतने दिनों तक मैंने तपश्चर्या कर साधुत्व को भली भांति निभाया भी था, किन्तु खेद है कि अब पुनः सांसारिक प्रलोभनों ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है। हाय! मैं लुट गया, मेरी चारित्र-सम्पदा नष्ट हो गई। जीवन का यह महत्त्वपूर्ण अंश निरर्थक व्यतीत हो गया। मुझे धिक्कार है जो राजर्षि कहला कर भी इस प्रकार का जघन्य कृत्य कर रहा हूं।' इस प्रकार सेलग मुनि को अपने पतन पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। पश्चात्ताप की इस आग में उनका मन का सारा मैल भस्म हो गया। उन्होंने अपने इस दुराचार के लिए प्रायश्चित्त लेने का सङ्कल्प कर लिया।

प्रातःकाल होते ही राजर्षि ने मण्डूक राजा को सम्मान तथा अन्य वस्तुएँ सँभला कर पंथक मुनि के साथ वहां से विहार कर दिया। उन्होंने अपने शैथिल्य के लिए घोर



समुद्रमें एक तुम्बी तो मिट्टी और सनकी रस्सीके बन्धन आदि से विमुक्त होनेके कारण जलकी सतह पर तैर रही है। और दूसरी तुम्बी मिट्टी रस्सी आदि के बन्धनों से संयुक्त होनेके कारण जलमें डूबी जा रही है।

प्रायश्चित्त लिया और पूर्ववत् धर्म का प्रचार करते हुए विचरने लगे।

अन्य शिष्यों को जब राजर्षि के इस परिवर्तन का हाल मालूम हुआ तो वे भी विनयपूर्वक उनकी सेवा में उपस्थित हुए और उनकी आज्ञा में विचरने लगे।

राजर्षि सेलग ने बहुत समय तक अनेक ग्राम-नगरों में विहार कर जनता को धर्म का मर्म समझाते हुए मुक्ति के मार्ग में लगाया। अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर समाधि धारण कर सर्वोत्तम और शाश्वत पद को प्राप्त किया।

उपसंहार

सेलग ऋषि राज्यवैभव का परित्याग कर मुनिपद धारण करने पर भी आचार में शिथिल पड़ गए। पर अन्त में अपने सुविनीत शिष्य के कारण वे सँभल गए और पुनः अपने कर्त्तव्य में पूर्ववत् तत्पर होकर सिद्धि को प्राप्त हुए।

वास्तव में जो संसार के वैभव को ठुकराकर अनगार और अकिंचन बनते हैं वे ही यदि पुनः त्यागे हुए को ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो जाएँ तो उनके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। इस लोक में उन्हें लोक हँसाई सहनी पड़ती है और परलोक में भयंकर यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। सेलग ऋषि यदि अन्त में सँभल न गए होते तो

उन्हें दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ता। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण चारित्र को ग्रहण करने से पूर्व उसकी कठिनाइयों को भलीभाँति समझ ले। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि वह अपने ऊपर एक महान् उत्तरदायित्व का भार ले रहा है और ऐसे उत्तरदायित्व को जीवनपर्यन्त निभाना पड़ेगा। एकान्त निश्चय से सर्वस्वत्याग का जो प्रण किया जाय उसे प्राणों की उपेक्षा करके भी पालन करना परम कर्त्तव्य है। प्राणों के त्राण की अपेक्षा प्रण पालन करना ही श्रेष्ठ है।

इसके अतिरिक्त इस उदाहरण से यह भी ज्ञात होता है कि उपशान्त हुए कर्म अवसर पाकर पुनः आक्रमण कर बैठते हैं। अतएव जो साधक महानुभाव कर्मों से युद्ध ठान कर और मोक्ष रूपी समृद्ध साम्राज्य का सुखोपभोग करने के अभिलाषी बन कर निरन्तर प्रयत्न-परायण रहते हैं उन्हें अत्यन्त सावधान रहना चाहिए और बारीक नज़र से आत्म निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधक अपने मनो व्यापारों का सूक्ष्म अवलोकन करता है उसके पतन की बहुत कम संभावना होती है।

छठा अध्याय

लगभग चौबीस सौ वर्ष पहले इसी भरत खड में राजगृही नामक प्रसिद्ध नगरी थी। महाराज श्रेणिक वहा के सम्राट थे। जैन धर्म पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वे बडे न्यायशील और धर्मपरायण थे। इनका विशेष उल्लेख पहले अध्याय में किया जा चुका है।

अहिंसा-धर्म की दुदुभि बजाते हुए श्रमणोत्तम भगवान् महावीर एक बार राजगृही नगरी में पधारे। उनके आगमन का वृत्तान्त जानकर राजगृही-वासियों के हर्ष का पार न रहा। जनता भगवान् का सदुपदेश श्रवण करने के लिए लालायित हो उठी और अत्यन्त भक्तिभाव के साथ उनके दर्शन करने के लिए पहुँची।

महाराज श्रेणिक ऐसे अमूल्य अवसर को कैसे हाथ से जाने देते? वे भी सपरिकर भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। यथायोग्य वन्दना नमस्कार आदि क्रियाएँ कर उन्होंने उपदेश सुना। उपदेश अत्यन्त गंभीर, रोचक और मर्मस्पर्शी था। भगवान् की अतिशयपूर्ण भाषा को सब प्रान्तों के नर नारी इतनी अच्छी तरह समझ लेते थे, मानों भगवान् उन्हीं की भाषा बोल रहे हों।

इसी समय भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी ने उनसे नम्रतापूर्वक पूछा—'प्रभो! आत्मा हलकी, कर्मरहित, अल्प कर्मवाली अथवा सघन कर्मवाली कैसे बनती है?'

प्रश्न का समाधान करते हुए प्रभु ने कहा—गौतम! जैसे कोई सूखे तूंबे को कुश से लपेट कर उस पर मिट्टी का लेप कर के धूप में सुखावे और इसी तरह पुन एक आठ बार करे तो वह तूंबा भारी हो जाता है और पानी में डालने से पानी की तह तक पहुँच कर वहीं ठहर जाता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार, ममत्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, लड़ाई, चुगली, परापवाद, खेद, स्नेह, मिथ्यात्व आदि पापों के कारण उत्पन्न होने वाली कर्म की आठ प्रकृतियों के लेप से भारी होकर अधोगति में जाती है। और जैसे पानी में पड़े रहने के कारण तूंबे के बन्धन-

लेप शनैः शनैः सडते सडते दूर हो जाते हैं और तूंबा हलका होकर पानी पर उतराने लगता है, वैसे ही जप, तप, संयम व्रत, स्वाध्याय, ध्यान आदि की शक्ति से आठ कर्म प्रकृतियाँ ज्यों-ज्यों नष्ट होती जाती हैं त्यों-त्यों आत्मा अधोगति से निकल कर उच्च गति को प्राप्त होती जाती है। इस प्रकार जब समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है तब सर्वथा बन्धनहीन होकर ऊर्ध्वलोक में अवस्थित हो जाती है।

प्रभु के इस सरल पर युक्तियुक्त समाधान से समस्त श्रोताओं को आत्मा के बन्धन और मुक्ति का मर्म मालूम हुआ। सब लोग अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने-अपने स्थानों पर लौट गए।

उपसंहार

कर्मों के बन्धन से भारी होकर आत्मा चौरासी के चक्कर में पडती है—चौरासी लाख जीवयोनियों में भ्रमण कर नाना प्रकार की व्याधियों का आश्रय बनती है। वह कभी नरक गति की और कभी तिर्यञ्च गति की अतिथि बनती है। कभी-कभी मनुष्य और देवगति भी उसे मिलती है। इस उन्नत और अवनत अवस्थाओं में घूमते-घूमते इसे अनन्त काल हो गया है। मगर कर्मों के पाश में आबद्ध

होने के कारण इसे मुक्ति नहीं मिल सकी है। हा, जो महात्मा पूर्व सचित कर्म बधन के विनाश करने का प्रयत्न करते हैं और कर्म बधन के कारणों से दूर रहकर उनका आगमन रोक देते हैं, वे सर्वज्ञत्व प्राप्त करते हैं। उन्हें फिर ससार सागर के भयकर आवर्तों में नहीं पड़ना पड़ता। वे असीम आनन्द का अनन्त काल तक उपभोग करते हैं।

जो भव्यजीव जन्म-जरा मरण की विविध वेदनाओं से मुक्ति चाहते हैं उन्हें ससार सबधी उपाधियों से पिण्ड छुड़ाकर अध्यात्मप्रधान बनना चाहिए। आस्रव और बध को रोक कर सवर और निर्जरा के आश्रय में आना चाहिए। आत्म कल्याण का बस यही अद्वितीय राजमार्ग है।

सातवाँ अध्याय

राजगृही नगरी में धन्ना सार्थवाह नामक एक प्रसिद्ध धनाढ्य व्यापारी रहते थे। उनके पास अपरिमित धन था, वे सब प्रकार से सौभाग्यशाली थे, अतः सर्वसाधारण लोग उन्हें 'धन्ना' नाम से संबोधन करते थे। व्यापार में वे बहुत निपुण थे। अनेक बड़े-बड़े व्यापारी उन्हें प्रामाणिक समझ कर उनसे परामर्श लेने आया करते थे। ऋण लेकर या सामर्थ्य से अधिक व्यापार करना उनकी नीति से विरुद्ध था, अतः व्यापार में हानि हो जाने पर भी उनकी कीर्ति या प्रतिष्ठा में धब्बा नहीं लगता था। प्रथम तो उनका व्यापार ही ऐसा होता था कि उसमें हानि की संभावना न रहती थी, तिस पर व्यापार संबंधी उनकी कुशलता अनुपम थी। फिर भी व्यापार, व्यापार ही

है। उसमें लाभ और हानि का जोड़ा है।

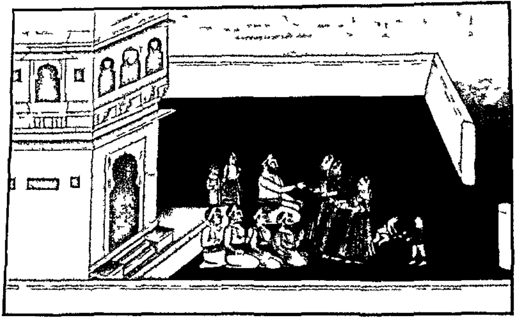
धन्ना सार्थवाह बड़े दयालु, परोपकारी और लोकहितैषी थे। जो गृहस्थ पूँजीहीन होने के कारण व्यापार न कर सकते थे उन्हें पूँजी देकर वे व्यापार में लगा देते थे। वे सदा दीनहीन जनों की यथोचित सहायता किया करते थे।

वे विदेश में व्यापार करने जाया करते थे और अपने साथ अनेक निर्धन यात्रियों को ले जाते थे। वहाँ उनके स्थान-भोजन आदि की व्यवस्था और व्यय करते थे तथा द्रव्यप्राप्ति कराते थे। वे निर्धनों, असहायों और निर्बलों के अद्वितीय आश्रयदाता थे। इन्हीं सब उदार सद्गुणों के कारण उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

धन्ना सार्थवाह की पत्नी का नाम भद्रा था। वह स्वभावतः भद्रा, सुशीला, पतिव्रतपरायण और गृहकार्य में कुशल थी। वह अपरिमित धन की स्वामिनी थी, पर अहंकार उसे छू भी न गया था।

भद्रा ने चार पुत्रों को जन्म दिया था—(१) धनपाल (२) धनदेव (३) धनगोप और (४) धनरक्षित। चारों पुत्रों की युवावस्था आने पर विवाह किया गया था और चारों सुखपूर्वक अपना जीवन यापन करते थे।

शास्त्र में एक बात विवाह के सम्बन्ध में इस समय के लिए विशेष उल्लेखनीय पाई जाती है। वह यह कि प्राचीन



सेठ अपने पुत्रों के सामनेही चारों पुत्र-वधुओंको शालि (धान) पांच-पांच दाने दे कर उनकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा कर रहा है।

है। उसमें लाभ और हानि का जोड़ा है।

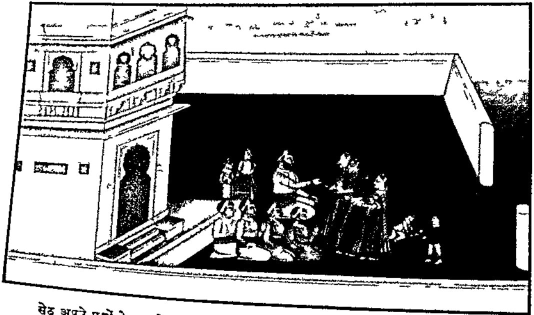
धना सार्थवाह बड़े दयालु, परोपकारी और लोक-हितैषी थे। जो गृहस्थ पूंजीहीन होने के कारण व्यापार न कर सकते थे उन्हें पूंजी देकर वे व्यापार में लगा देते थे। वे सदा दीनहीन जनों की यथोचित सहायता किया करते थे।

वे विदेश में व्यापार करने जाया करते थे और अपने साथ अनेक निर्धन वणिकों को ले जाते थे। वहीं उनके स्थान-भोजन आदि की व्यवस्था और व्यय करते थे तथा द्रव्यप्राप्ति कराते थे। वे निर्धनों, असहायों और निर्बलों के अद्वितीय आश्रयदाता थे। इन्हीं सब उदार सद्गुणों के कारण उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

धना सार्थवाह की पत्नी का नाम भद्रा था। वह स्वभावतः भद्रा, सुशीला, पतिव्रतपरायण और गृहकार्य में कुशल थी। वह अपरिमित धन की स्वामिनी थी, पर अहंकार उसे छू भी न गया था।

भद्रा ने चार पुत्रों को जन्म दिया था—(१) धनपाल (२) धनदेव (३) धनगोप और (४) धनरक्षित। चारों पुत्रों का युवावस्था आने पर विवाह किया गया था और चारों सुखपूर्वक अपना जीवन यापन करते थे।

शास्त्र में एक बात विवाह के संबंध में इस समय के लिए विशेष उल्लेखनीय पाई जाती है। वह यह कि प्राचीन



सेठ अपने पुत्रों के सामनेही चारों पुत्र-वधुओंको शाल (धान) पाँच-पाँच दाने दे कर उनकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा कर रहा है।

काल में कच्ची उम्र में बाल विवाह नहीं होते थे किन्तु युवावस्था आने पर ही विवाह-संबंध हुआ करता था। बाल विवाह अर्वाचीन काल का एक भयङ्कर अभिशाप है जो मानव समाज के सत्व को खोखला और सौभाग्य को दुर्भाग्य बना रहा है। शरीर पर बाल विवाह का कितना बुरा प्रभाव पड़ता है यह बताने की आवश्यकता नहीं। यह सरल और सीधी सी बात प्रत्येक विचारशील भलीभांति समझ सकता है। पर बाल विवाह के दुष्परिणाम यहीं तक सीमित नहीं हैं। वे मानव समाज का नैतिक पतन भी कर रहे हैं और जीवन को भारभूत बना रहे हैं। अनेक ग्रंथों में विवाह का स्वरूप बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है—'चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर वरण करना विवाह है।' इस से यह स्पष्ट है कि विवाह के लिए तत्सम्बन्धी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होना आवश्यक है। पर अत्यन्त अल्पवयस्क बालकों के ऐसा चारित्रमोह का उदय ही प्रायः नहीं पाया जाता। तब उनके विवाह को वस्तुतः विवाह ही कहना कठिन है। वास्तव में ऐसे विवाह शरीर, नीति और धर्म से सर्वथा विरुद्ध हैं। अस्तु।

आधी रात का समय था। सारा संसार मोहमयी निद्रा के अंक में छिपा हुआ था। एकाएक धन्ना सार्थवाह की निद्रा भंग हुई। उन्हें विचार आया राजगृही नगरी में मैं

कितना सुखी हूँ ! मेरा घर परिजनों से परिपूर्ण है । अटूट सम्पत्ति का मैं स्वामी हूँ । नगरी में मेरा यथेष्ट सम्मान है। मेरा घराना अत्यन्त प्रामाणिक, प्रतिष्ठित और गौरवपूर्ण माना जाता है । राजदरबार में मेरा सबसे अधिक आदर है, प्रभाव है । मैं देखता हूँ—इस समय मैं सब प्रकार से सुखी और सम्पन्न हूँ। पर कौन जानता है कल क्या होगा ? संसार में प्रतिपल परिवर्त्तन का आवर्त्तन होता रहता है । काल का निरन्तर नर्त्तन, धन, जन, सम्मान आदि में परिवर्त्तन करता रहता है । कोई भी अवस्था क्षणभर भी तो कायम नहीं रहती ! ऐसे प्रतिक्षण भंगुर संसार पर क्या भरोसा किया जाय ? फिर यह मानव जीवन भी तो पानी का बुलबुला है, विद्युत का सा प्रकाश है। अभी है और अभी नहीं । जीवन के पीछे पीछे छाया की भांति मृत्यु लगी रहती है । अवसर मिलते ही वह आक्रमण कर बैठती है । पींजरे का एक द्वार खुलते ही पक्षी उड़ जाता है, यहां तो शरीर के अनेक द्वार खुले ही रहते हैं । प्राण पखेरू का किसी भी क्षण उड़ जाना आश्चर्यजनक नहीं है । आश्चर्य तो उनके ठहरने में ही है । संसार में अब तक कितने महापुरुष अनन्तशक्तिशाली हो चुके हैं, पर उनमें से एक भी जीवित न रह सका ।

धन्ना सेठ विचारने लगे—"यदि मेरे जीवन का अचा-

नक ही अन्त आ गया तो संभव है मेरे पुत्र आदि पारस्परिक कलह करके यशस्वी कुटुम्ब को कलंक लगावें। संभव है महिलाएँ आपस में वैमनस्य और वैर विरोध करके गृहस्थी को छिन्नभिन्न कर दें और भाई-भाई में मनमुटाव हो जाय। अतएव अपने सामने ही गृहस्थी की भावी व्यवस्था कर देना उचित है।

यह सब न हुआ तो भी मैं परलोक के लिए कुछ भी पूँजी एकत्र न कर सकूँगा और मेरा यह अमूल्य जीवन वृथा ही व्यतीत हो जायगा। मैंने चिन्तामणि को काच के टुकड़ा के भाव बेच दिया, इस प्रकार का पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त और कुछ भी न बन पड़ेगा। अतएव सब व्यवस्था करके मैं भी गृहस्थी के भार से मुक्त हो सकूँगा और आत्मसाधना में समय लगा सकूँगा।"

धन्ना सार्थवाह ने प्रातःकाल होते ही नगर के समस्त प्रधान और प्रतिष्ठित पुरुषों को आमन्त्रित किया और अशन-पान आदि से उनका यथोचित सत्कार किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी चारों पुत्र वधुओं में से ज्येष्ठ पुत्रवधू उज्झिका को बुलाकर कहा—"बेटी! मैं तुम्हें यह पाँच अखंड शालि देता हूँ। इन्हें ले जा और इनकी योग्य रीति से रक्षा एवं वृद्धि करना। मैं जब इन्हें माँगूँ, मुझे वापस लौटाना।"

उज्झिका ने शालि ले तो लिए पर उसे बड़ा आश्चर्य

हुआ। वह सोचने लगी—घर में शालि के ढेर पड़े हैं, फिर इन पाच दानों को देने का क्या मतलब है? कुछ भी हो, इन्हें सम्भालकर रखने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। जब श्वसुरजी दाने मांगेंगे तो घर में भी उठाकर दे दूंगी। अन्त में उज्झिका ने वे दाने फेंक दिये और अपने काम काज में लग गई।

धना ने दूसरी पुत्रवधू भोगवती को बुलाया। उसे भी दाने तथा उल्लिखित सूचना देकर विदा किया। वह भी उन दानों के देने का कोई विशेष प्रयोजन न समझ सकी। पर श्वसुर की दी हुई भेंट को फेंकना उस ने उचित न समझा और छिलके उतार कर प्रेम के साथ उन्हें खा गई।

तीसरी पुत्रवधू रक्षिता को बुला कर उसे भी पांच शालि के दाने दिये गये। उसने सोचा—'यद्यपि इन दानों का कोई विशेष मूल्य नहीं है तथापि विवेकशील श्वसुरजी ने कुछ सोच-समझ कर ही दिये होंगे। इस में कुछ गुप्त रहस्य अवश्य होना चाहिये।' उस ने उन्हें एक रत्न के सदूक में बंद कर रख दिये। वह सदूक उस ने अपने शयनगृह में रखा और सोते समय प्रतिदिन वह उसे सतर्क होकर सँभाल लेती।

सेठजी ने चौथी वधू रोहिणी को बुलाकर उसे भी वही पाच दाने दिये। रोहिणी को इसमें महत्वपूर्ण रहस्य

प्रतीत हुआ। उसने सोचा—'श्वसुरजी की आज्ञा के अनुसार ही मुझे इनकी रक्षा और वृद्धि करना चाहिए।' यह विचार कर उसने एक आदमी के साथ वे दाने अपने मायके भेज दिये और साथ ही कह दिया कि दाने सँभाल कर रखना जब बोने का समय आवे तो पिताजी के खेतों के पास एक छोटी-सी क्यारी में इन्हें बो देना। इनके चारों ओर बाड़ लगाकर होशियारी से इनकी रक्षा और वृद्धि करना।'

स्वामिनी की आज्ञा शिरोधार्य कर सेवक रोहिणी के पिता के घर आया। वर्षा काल आने पर उसने एक छोटी किन्तु सुन्दर क्यारी बनाकर वे दाने बो दिये। पर्याप्त पानी और खाद मिलने से धान खूब बढ़ा। कालक्रम में जब वे सूख गए तो उन्हें काटकर, हाथों से मसल कर उनके शालि बना लिए। उनमें जो धान निकला उससे एक 'पाथा' (एक प्रकार का माप) भर गया।

दूसरे साल मौसिम आने पर वे शालि फिर बो दिये गये। इस वर्ष उन से इतना धान्य निकला कि अनेक कूडे भर गये। इसी प्रकार तीसरे, चौथे और पाचवें वर्ष बोते-बोते इतना धान्य हो गया कि उन से कई गाडियां भर गईं। यह सब धान्य सुरक्षित रूप से जमा कर लिया गया।

पाच वर्ष बीत जाने के बाद धन्ना सार्थवाह ने फिर पूर्ववत् ही अपने इष्ट मित्रों तथा प्रतिष्ठित पुरुषों को आमन्त्रण दिया आज सार्थवाह ने पहले दिये हुए शालि के दानों का पुत्र वधुओं से हिसाब मांगने का निश्चय किया था। अतएव उन्होंने सर्व प्रथम ज्येष्ठ पुत्रवधू को बुलाया और कहा—'बेटी! आज से पाच वर्ष पहले मैंने पाच शालि के दाने दिये थे। अब मुझे उन की आवश्यकता है।'

श्वसुर की बात सुन कर वह गई और शालि से भरे हुए कोठे में से पाच दाने निकाल लाई। सेठजी ने पूछा—'बेटी! सच कहना यह वही दाने है जो मैंने तुझे दिये थे या दूसरे है?'

उज्झिका ने कहा—'पिताजी, यह आपके दिये हुए नहीं है। आपने जो दाने दिये थे उन्हें कब तक सँभालती! वे दाने तो मैंने उसी समय फेंक दिये थे। यह तो अभी कोठे में से निकाल कर लाई हूँ'

पुत्रवधू का यह उत्तर सुन कर सेठजी उदास हुए। सोचा—'यह मेरे धन की रक्षा न कर सकेगी। यह उडाऊ और फेंकू है। इसे ऐसा काम सौंपना चाहिए जिससे मेरी सम्पत्ति को किसी प्रकार क्षति न पहुँचे।' इस प्रकार सोच कर उस से कहा—'बेटी! आज से मैं तुझे घर का कूड़ा-

कचरा निकालने का, लीपने पोतने का, स्नान के लिए गर्म जल करने आदि का काम सौंपता हूँ। मैं तुझे इन्हीं कामों के योग्य समझता हूं। पूर्ण कुशलता से इन कामों को करना।

दूसरी पुत्र वधू की बारी आई। उसे बुला कर उस से भी शालि मांगे। उसने भी उज्झिया की भांति कोठे से शालि के दाने निकाल कर दे दिये। सेठजी के पूछने पर भोगवती ने कहा—पिताजी! आपके दिये हुए दानों का सँभाल रखना कठिन था और उन्हें फैंक देना भी उचित न था क्योंकि आपने प्रेमपूर्वक दिये थे। अतएव मैंने साफ करके उन्हें खा लिया है। यह दूसरे दाने हैं।

भोगवती का उत्तर सुन सेठजी ने विचार किया—'यह भी गृह कार्य को यथेष्ट रूप से चलाने में असमर्थ है। इसे खाना पीना अधिक प्रिय है।' अतएव सेठजी ने पीसने कूटने, भोजन बनाने, पकवान तैयार करने तथा परोसने का काम उसके सिपुर्द कर दिया। और बुद्धिमत्ता से यह कार्य करने का आदेश दिया।

इसके अनन्तर उन्होंने तीसरी पुत्र वधू रक्षिका को बुलाया और वही दाने माँगे। वह अपनी रत्न पिटारी में सुरक्षित रखे हुए दाने ले आई। सेठ के प्रश्न के उत्तर में उसने बताया—'पिताजी, यह वही दाने हैं जो आपने मुझे

दिये थे। नगर के सब प्रतिष्ठित और सम्भ्रान्त सज्जनों के समक्ष दी हुई यह धरोहर साधारण सी प्रतीत होने पर भी गंभीर विचार करने से मुझे असाधारण और रहस्यपूर्ण ज्ञात हुई। अतएव इन्हें मैंने रत्नों की पिटारी में सुरक्षित रूप से रख छोड़ा था। प्रतिदिन इनकी देखभाल कर लेती थी।

रक्षिता की बात से सेठजी को प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा—'जैसे शालि कणों को इसने सुरक्षित रखा है वैसे ही द्रव्य को भी यह सुरक्षित रखेगी।' यह विचार कर जवाहरात, सुवर्ण, हिरण्य, पीतल, धन धान्य, भाण्डोपकरण आदि गृहस्थी सम्बन्धी वस्तुओं को सुरक्षित रखने का कार्य उसे सौंप दिया। सावधानी और चतुरता के साथ सब काम करने का आदेश देकर उसे भी विदा किया।

अन्त में चौथी पुत्र वधू से भी शालि मांगे गये। वह बोली—'पिताजी, वह शालि यों न आ सकेंगे। उनके लिए तो बहुत सी गाड़ियों और छकड़ों की आवश्यकता है।' रोहिणी के इस विचित्र से उत्तर से क्षणभर लोग चकित रह गये। सेठजी को भी कुछ आश्चर्य हुआ। वह बोले—'बेटी, यह क्या पहेली-सी बुझाती है? स्पष्ट करके कहो—वास्तविक बात क्या है? पाच दानों के लिए गाड़ियों और छकड़ों की आवश्यकता क्या है?'

रोहिणी ने मुस्कराते हुए नम्रतापूर्वक धीमे से कहा—

'पिताजी ! आपने आज से पाच वर्ष पूर्व पाच दाने दिये थे। साथ ही उनकी रक्षा और वृद्धि करने का भी आदेश दिया था। मैंने आपके आदेश का पालन किया है। पिता के घर दाने भेज कर उनकी खेती कराई। प्रति वर्ष बढते-बढते वे इतने अधिक हो गए है कि गाडियों और छकडा के बिना नहीं आ सकते।'

बुद्धिमती रोहिणी के कौशल की बात सुन कर सेठजी के चेहरे पर हर्ष नाचने लगा, मानों उन्हें जो चाहिए था वही मिल गया हो। उनके आनन्द की सीमा न रही। उसी समय रोहिणी के मायके के लिए उन्होंने गाडिया रवाना करदी और सब धान उनके पास आ गया। शालि से भरी हुई गाडियों का ताता लग गया तो नगर निवासी रोहिणी के बुद्धि वैभव की भूरि भूरि प्रशसा करने लगे। लोग कहने लगे—वास्तव में गृहिणी हो तो ऐसी हो जिसने पाच दानों से गाडियों धान्य कर दिया ! सेठजी ने प्रसन्नतापूर्वक उसे गृहस्थी का सर्वेसर्वा बना दिया और सब को उसी के आदेशानुसार चलने की आज्ञा दी। इस प्रकार रोहिणी स्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई और सेठजी निश्चिन्त हो गए।

उपसंहार

उल्लिखित कथा जैन वाङ्मय का एक अत्यन्त उच्च-

कोटि का अंश है। इस में जो महत्वपूर्ण सार संग्रहित हैं वे अनेक दृष्टियों से साधु साध्वियां, श्रावक श्राविकाओं के लिए पद पद पर उपयोगी हैं। इस कथा पर जितना ही अधिक विचार किया जायगा, उतना ही अधिक तत्त्व प्राप्त होगा। मुख्यतया निम्नलिखित बातों पर इस से विशेष प्रकाश पड़ता है —

(क) जिस प्रकार उज्झिका ने श्वसुर के दिये हुए दाने फेंक दिये और भोगवती उन्हें मफाचट कर गई उसी प्रकार जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका अपने गुरु द्वारा प्रदत्त त्याग प्रत्याख्यान का परित्याग कर देते हैं या थोड़े समय तक पालन कर उन्हें दूषित करते हैं वे उज्झिका और भोगवती की तरह लोकनिन्दा के पात्र बनते हैं। इस के अतिरिक्त उन्हें उज्झिका और भोगवती के समान ही हीन पद की प्राप्ति होती है।

जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, रक्षिका और रोहिणी के समान, गुरुप्रदत्त त्याग प्रत्याख्यान आदि नियमों का यावज्जीवन पालन करते हैं, उनकी वृद्धि करते हैं वे लोक में प्रशंसा के पात्र बनते हैं और उन्हें उच्च पदवी (मुक्ति) प्राप्त होती है। अतएव प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं को, किये हुए प्रण को प्राणों की बाजी लगाकर भी पालन करे।

(ख) यद्यपि प्रत्येक आत्मा अनन्त गुणों का आधार है और सब आत्माओं में समान शक्तियां रही हुई हैं। पर उन शक्तियों का आविर्भाव समान नहीं होता। किसी में कोई शक्ति विशिष्ट रूप से आविर्भूत होती है, किसी में कोई और ही। इसके अतिरिक्त सब की रुचि भी भिन्न भिन्न ही होती है। एक छात्र स्वभावतः दर्शन शास्त्र के अभ्यास में अधिक रुचि वाला होता है तो दूसरे को प्राणी शास्त्र अधिक रुचिकर होता है। कोई साहित्य में कौशल प्राप्त कर सकता है, कोई कला-कौशल सुगमता से सीख सकता है। अतएव सब धान बाईस पसेरी तोलना उचित नहीं। ऐसा करने से व्यक्ति का विकास रुक जाता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। यह निष्कर्ष समाजव्यवस्था, कुटुम्बव्यवस्था और विशेषतः शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी है।

(ग) संतान की कामना किस गृहस्थ को नहीं होती? क्या पठित और क्या अपठित, सब संतान के लिए लालायित रहते हैं। संतान के बिना स्त्री पुरुषों को अपना जीवन सूना सा, अधूरा सा और उदास सा प्रतीत होता है। अतएव संतति-प्राप्ति के लिए लोग अनेक अभद्र उपायों तक का अवलम्बन करते हैं। पर कितने व्यक्ति हैं जो संतान के सदुपयोग को भलीभांति समझते हैं? संतान को अपने

मनोरंजन का साधन बना लेना, उन्हें अपना खिलौना बना लेना या उससे अपने सौभाग्य की कल्पना कर लेना ही संतान की उपयोगिता नहीं है। संतान की वास्तविक उपयोगिता तो इसमें है कि उन्हें सब प्रकार से समर्थ, कार्यदक्ष, न्यायपरायण और धर्मनिष्ठ बना देने के अनन्तर गृहस्थी का भार उन्हें सौंप दिया जाय और आप एकान्त निश्चिन्त होकर निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हो जाय। इस सम्बन्ध में धन्ना सार्थवाह का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

आठवाँ अध्याय

प्राचीन काल में वीतशोका नामक एक प्रख्यात नगरी थी वह महाविदेह क्षेत्र में, सुमेरु पर्वत के पश्चिम भाग में थी। वहा के राजा का नाम बल था। राजा बल कुशल राजनीतिज्ञ और प्रजापालक था। उसके महाबल नामक एक प्रतापी पुत्र था। वह बड़ा वीर, साहसी और गुरुजनों की आज्ञा का पालक था।

एकबार धर्मघोष नामक मुनिराज इस नगरी में पधारे। उन्होंने त्याग और सयम का सुन्दर उपदेश दिया। उपदेश सुनने से राजा बल को ससार से विरक्ति हो गई। उन्होंने महाबल को राज्य देकर मुनिदीक्षा धारण कर ली।

राजा महाबल न्यायपूर्वक राज्य कार्य करने लगे। उनके बाल्यकाल के छ मित्र थे। उनके नाम क्रमशः

अचल, धरण, पूर्ण, वसु, वैश्रमण और अभिचद थे। यह सभी, राजकुमार महाबल के साथ ही रहते, आनन्द करते और विद्याभ्यास करते थे। महाबल जब राजा हो गया तब भी इनकी मैत्री में कुछ अन्तर न पड़ा। वे पहले ही की भाँति मित्रभाव से रहते थे उनमें से प्रत्येक व्यक्ति सब की सम्मति लेकर ही नया कार्य करता था।

कुछ समय बाद फिर धर्मघोष मुनि का इस नगरी में आगमन हुआ। उनका वैराग्य रस परिपूरित सदुपदेश सुन कर राजा महाबल के मन में विरक्ति की प्रबल भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपने मित्रों से संयम धारण करने की इच्छा प्रकट की। सभी मित्रों ने महाबल की मनोकामना की सराहना करते हुए स्वयं भी दीक्षा धारण करने का निश्चय किया।

महाराज महाबल ने अपने उत्तराधिकारी सुपुत्र बल-भद्र का राजसिंहासन पर अभिषेक किया। बलभद्र ने राजो-चित समारोह के साथ अपने पिता की दीक्षा का उत्सव मनाया। महाबल ने अपने सभी मित्रों के साथ तपस्वी धर्मघोष मुनि के निकट निर्ग्रंथ-दीक्षा धारण की और रत्न-त्रय का उत्कर्ष साधन करते हुए विचरने लगे।

एक बार सब ने समान तप करने का सङ्कल्प किया। उपवास, बेला, तेला या अन्य कोई भी तपस्या करें वह सब

साथ ही करें। इस निश्चय के पश्चात् सब ने बेला (दो उपवास) व्रत धारण किया। व्रत ग्रहण करने के पश्चात् मुनि महाबल के हृदय में अपनी महत्ता प्रकट करने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपने मित्रों से अधिक तपस्या करना स्थिर करके तेला करना प्रारंभ किया, किन्तु मित्र मुनियों पर यह बात प्रकट न होने दी। बेला समाप्त होने पर अन्य मुनियों ने पारणा करने के भाव दर्शाए तो महाबलजी ने भी यही भाव व्यक्त किया। परन्तु जब अन्य मुनियों ने पारणा कर लिया तो वे कहने लगे—मैं तो तेला करूँगा। इस कपट के फलस्वरूप उन्हें स्त्रीवेद का बन्ध हुआ।

कपट करने से आत्मा का घोर पतन होता है—ऐसा पतन कि जिसका छोर ही नहीं मिलता। थोड़े से कपट के प्रभाव से महाबल जैसे राजर्षि और ज्ञानी पुरुष को भी स्त्री पर्याय भुगतनी पड़ी तो सामान्य व्यक्तियों के लिए महान् कपट का कितना दुष्परिणाम होगा, यह सहज ही समझा जा सकता है। कपटी मनुष्य दूसरों की दृष्टि में गिर जाता है, उसे झूठ का जाल रचना पड़ता है, बात बात में वह अपने हृदय को धोखा देता है। मायाचार वास्तव में सदाचार और सद्विचार का प्राणसंहार करने वाला भयंकर शस्त्र है। यह वह दुधारा शस्त्र है जिससे स्व पर-दोनों का

हनन होता है। अतएव विवेकनिष्ठ नर नारी हृदय को मंगल बनाने का पूर्ण प्रयास करते हैं।

इसके अनन्तर महाबल मुनि ने अनेक प्रकार की तीव्र तपस्या करके सर्वोत्कृष्ट पुण्य के परिणाम स्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया, जो निम्नलिखित बीस कारणों से होता है।—

(१-७) अरहन्त, सिद्ध, शास्त्र, गुरु स्थविर, बहुश्रुती, तपस्वी, का गुणानुवाद करना

(८) ज्ञान अभ्यास करना

(९) शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करना

(१०) गुरुजनों का विनय करना

(११) पापों से डरते रहना और देवसी रायसी, पक्खी, चौमासी सम्वत्सरी का प्रतिक्रमण कर अपने अपराधों के लिए क्षमा याचना करना।

(१२) ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का यथा योग्य पालन करना।

(१३) पापों की उपेक्षा करते हुए सदैव वैराग्यभाव रखना।

(१४) बाह्य अभ्यंतर तप करना।

(१५) प्राणीमात्र के लिए सुख पहुँचाना।

(१६) फल की इच्छा रहित दान देना।

शाच की पैशाचिकता का दिव्यता के रूप मे परिणतित कर दिया। उसने देवता का रूप धारण किया। वह अर्हन की भूरि भूरि प्रशसा करने लगा। यही नहीं, उसने अर्हन का भेट स्वरूप दो कुण्डल प्रदान किये और चला गया।

यान अब गन्तव्य स्थान म जा पहुँचा। सारा माल उतरवा कर अर्हन मिथिला नगरी म पहुँचा तो वहा के राजा के पास गया और वही दोनों कुण्डल उसन भेट मे दिये। राजा ने मल्लिकुमारी को बुला कर कुण्डल उसे पहना दिये। इस बहुमूल्य भेट के बदले राजा ने कर माफ कर दिया और अर्हन का खूब आदर सत्कार किया।

अर्हन ने माल बेचकर नया माल खरीदा और अपने नगर के लिए रवाना हो गया। वहाँ जाकर भी उसने राजा को कुडल का जोडा भेट किया। राजा ने भेट स्वीकार कर कहा—'अर्हन, बहुत दूर जाकर आये हो। कहो परदेश म तुमने कौन सी उत्तम वस्तु देखी?' अर्हन ने उत्तर दिया—'महाराज, मैं ने मिथिलेश की कन्या मल्लि कुमारी को देखा है। वह ससार में सर्व श्रेष्ट सुदरी है। ऐसा जान पडता है मानों सौन्दर्य ही साकार होकर मल्लि कुमारी बन गया है।'

अर्हन की बात सुन राजा ने दूत को बुलाया और मिथिला जाकर मल्लि कुमारी की मँगनी करने की आज्ञा

दी। दूत मिथिला जा पहुँचा।

उसी समय कुणाला के अन्तर्गत सावत्थी (श्रावस्ती) नाम की नगरी भी खूब समृद्ध थी। वहाँ रूपी नामक राजा उस समय राज्य कर रहा था। उसकी पत्नी का नाम धारिणी और पुत्री का नाम सुबाहु था कन्या रूपमपन्न और लावण्य में अद्वितीय थी। एक बार किसी उत्सव के समय राजा ने कन्या के लिए फूल मँगवाए, फूलों की गेंद बनवाई। राजा ने दूसरे सेवक को राजमार्ग में पुष्प मय मण्डप तैयार कर उसमें पच वर्ण तण्डुलों से नगर की रचना करने और उसमें एक जौट रखने की आज्ञा दी। यथा समय सब तैयारी हो जाने पर राजा अपनी चतुरंगिणी सेना, अन्त पुर की स्त्रियों और कन्या सुबाहु के साथ मण्डप में आया। कन्या को स्नान कराकर आभूषणों से भूषित कर बाजौट पर बिठा लाया। कन्या पिता को प्रणाम करने गई तो उसने अपने अंक में बिठा लिया और उसके अनुपम लावण्य को देख कर मन ही मन फूला न समाया।

उसी समय राजा ने वर्षधर को बुलाकर पूछा—कहो, तुमने कहीं ऐसा सुन्दर उत्सव कभी देखा है? वर्षधर ने उत्तर दिया—'आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मैं एक बार मिथिला गया था। वहाँ मैंने मल्लिकुमारी का उत्सव भी देखा था। क्षमा कीजिएगा, यह उत्सव उस उत्सव के सु

कानिले कुछ भी नहीं है।'

उसी समय इस राजा ने भी मल्लि कुमारी की मँगनी करने के लिए अपना दूत मिथिला भेज दिया। आदेशानुसार यह दूत भी मिथिला पहुँचा।

उस समय मिथिला नगरी में कुम्भ राजा की कन्या मल्लिकुमारी के देवदत्त कुण्डल टूट गए थे। उन्हें ठीक कराने के लिए राजा ने स्वर्णकारों को बुलाया। कुण्डलों की सन्धि टूटी हुई थी। उसे ठीक करने की आज्ञा पाकर स्वर्णकार कुण्डल लेकर घर चले गय। घर जाकर उन्होंने बहुत माथापची की पर कुण्डल जुड न सके। अन्त में हताश हो कर वे पुन' राजा के पास आये, प्रार्थना की—'दीनानाथ, यह कुण्डल बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं जुड़ते। आज्ञा हो तो इसी प्रकार के नये बना कर हाजिर करें।'

सुनारों की बात सुनते ही राजा आग बबूला हो गया। बोला—जब तुम सधि भी नहीं जोड़ सकते तो नये क्या खाक बनाओगे ? तुम लोग कुछ भी नहीं जानते। निकल जाओ हमारे देश से !

बेचारे सुनार क्या करते ? हताश हो अपना आवश्यक सामान लेकर काशी देश की बनारस नगरी में आये। वहा शख नामक राजा का राज था। भेट लेकर राजा के सन्मुख गये

और राज्य में बसने की आज्ञा मांगी। राजा ने पूछा—'तुम सब कहा से आये हो? तुम्हारे आने का कारण क्या है?' सुनारों ने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। वृत्तान्त सुन कर राजा ने कन्या के रूप लावण्य के विषय में पूछा और सुनारों ने सब बात बताई। उन्होंने कहा—उसका रूप असाधारण है। ऐसी कन्या सम्भवतः दूसरी नहीं है।

राजा का मन विचलित हो गया। उसने भी अपने दूत को बुला कर मल्लिकुमारी की मँगनी के लिए मिथिला भेज दिया।

मल्लिकुमारी के छोटे भाई मल्लदिन्न ने उस समय राज प्रासाद के पीछे, बगीचे में एक सुन्दर 'चित्र सभा' नामक कोठी बनवाने की आज्ञा दी। राजकुमार की आज्ञा-पूर्ति होते देर न लगी। शीघ्र ही कोठी बन कर तैयार हो गई। फिर राजकुमार ने चतुर चित्रकारों को बुलाया और चेतोहर चित्र विचित्र चित्र बनाने की आज्ञा दी चित्रकारों ने अपनी सारी चित्रकला मानों मूर्त रूप में कोठी पर अंकित कर दी। सुन्दर और भाव पूर्ण चित्र बनाये गये। उन चित्रकारों में एक चित्रकार प्रतिभाशाली था। वह किसी मनुष्य, पशु या पक्षी आदि के एक अवयव को देख कर ही पूर्ण चित्र अंकित कर सकता था। उस ने किसी समय मल्लिकुमारी का अंगूठा भर देख पाया था और उसी के आधार पर उसने

परिपूर्ण चित्र कोठी पर अंकित कर दिया। राजकुमार ने चित्रकारों को यथेष्ट पारिश्रमिक देकर बिदा कर दिया।

एक दिन युवराज अपनी पत्नी आदि परिवार को लेकर धाय माता के साथ उस चित्रसभा में आया। वहा के सौन्दर्य को और चारू चित्रों का ध्यान से अवलोकन करता हुआ वह वहा जा पहुचा जहा मल्लि कुमारी का चित्र अंकित था। उस चित्र की ओर दृष्टि जाते ही कुमार मारे लज्जा के गड सा गया। उसने सोचा-बहिन मल्लि कुमारी का 'आगमन यहा कब हुआ ? मेरी ज्येष्ठ भगिनी, माता-पिता के तुल्य आदरणीय हैं। इनके देखते हुए मैं अपनी पत्नी के साथ घूम रहा हूँ। बहिन मन में क्या सोचेंगी ? मैं कैसा निर्लज्ज हू ! यह सोच कर कुमार पीछे की ओर हटने लगा कुमार के चेहरे पर लज्जा भरे भाव और एकदम पीछे हटना देख धाय ने ऐसा करने का कारण पूछा। कुमार ने कुमारी के चित्र की ओर संकेत करते हुए कहा देखो न बहिन यहीं खडी हैं। उनके सामने परिवार के साथ कैसे जाउ ?'

धाय को कुमार की बात सुनकर हंसी आ गई और उसकी विनय शीलता से प्रसन्नता भी हुई। वह बोली बेटा' वह मल्लि कुमारी नहीं है, वह तो उनका हूबहू चित्र है।

धाय की बात सुनते ही कुमार का चेहरा तमतमा उठा। उसे चित्रकार पर एकदम क्रोध आया। बोला-चित्र

कार ने मेरी बहिन का चित्र बनाया कैसे ? उसने बहिन को कब और कैसे देखा ? चित्रकार को फांसी की सजा भी कम होगी।

चित्रकार बुलाए गए। जवाब तलब किया गया। सब चित्रकारों ने हाथ जोड़ कर कहा-दीनानाथ, यह चित्र कार हम सब में होशयार है। यह किसी भी वस्तु का एक भाग देखकर ही परिपूर्ण चित्र अंकित कर सकता है। इसने मल्लि कुमारी को कभी देखा नहीं। उनका एक अंगूठा मात्र कभी दृष्टिगोचर हो गया था। उसी के आधार पर यह चित्र अंकित किया गया है। कृपा कर इसे फाँसी की सजा न फरमाइए।' युवराज ने फाँसी के बदले चित्रकार का अंगूठा कटवा डाला और उसे देश निकाले का दण्ड दिया।

चित्रकार अपना डंड-कमंडल लेकर कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर में पहुँचा। वहाँ पहुँच कर वह वहाँ के महाराज अदीनशत्रु के सामने गया। मल्लिकुमारी का चित्र बना कर पास में रख लिया और भेट देकर उनसे हस्तिनापुर में रहने की आज्ञा माँगी। उसने कहा—दयासागर, मै मिथिला का रहने वाला हूँ। राजकुमार ने मुझे देश से निकाल दिया है। अब आपके आश्रय में, आपकी प्रजा बन कर रहना चाहता हूँ। राजा ने देश निकाले का कारण पूछा तो चित्रकार ने सारा वृत्तान्त सुनादिया। राजा, कुमारी के

चित्र को देखने का लोभ संवरण न कर सका। उसने चित्र देखने की अभिलाषा प्रकट की। चित्रकार पहले से ही तैयार हो कर गया था। उसने चित्र निकाल कर बता दिया। यह भी कहा कि मल्लि कुमारी के असली सौन्दर्य का चित्र में प्रदर्शित कर सकना असंभव है। कुमारी के सामने यह चित्र तो नाचीज है।

राजा अदीनशत्रु का भी मन मचल उठा। उसने अपने दूत को बुलाया और मल्लि कुमारी की मगनी के लिए मिथिला रवाना कर दिया। दूत मिथिला जा पहुंचा।

उस समय मिथिला में चोक्खा नाम की परिव्राजिका रहती थी। वह चारों वेदों की ज्ञाता थी। मिथिला की प्रजा को वह दानधर्म, शौचधर्म, तीर्थाभिषेक के महत्व का प्रतिपादन करती हुई व्याख्यान देती थी। एक दिन वह सन्यासिनी-राज भवन में मल्लि कुमारी के समीप जा पहुंची। उसने अपने धर्म की व्याख्या की। उसकी व्याख्या सुन-कर कुमारी ने कहा तुम्हारे धर्म का मूल क्या है ?

सन्यासिनी—हमारा धर्म शौच मूलक है। किसी प्रकार की अशुचि हो जाने पर जल और मृत्तिका आदि से स्नान करना चाहिए। इस क्रिया कलाप से आत्मा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

राजकुमारी—आपने जो शुचि बतलाई वह तो केवल

शारीरिक शुचि है। शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न हैं, तो शारीरिक शौच से आत्मिक शौच कैसे हो सकता है! जैसे खून से भरा हुआ कपड़ा खून से साफ नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्नान आदि क्रियाओं से आत्मा शुचि नहीं हो सकता।

इस प्रकार के लम्बे वार्तालाप से सन्यासिनी निरुत्तर हो गई। उसे चुप्पी साधे देख दासियों की बन पड़ी। किसी ने मुँह मचकाना प्रारंभ किया, कोई शरारत भरी हँसी हँसने लगी और कोई ताने मारने लगी। सन्यासिनी इस व्यवहार से बहुत अप्रसन्न हुई और पाञ्चाल (पंजाब) देश के अन्तर्गत कम्पिलपुर नामक नगर में आई। वह कम्पिलपुर की जनता को अपना धर्म सुना रही थी। एक दिन वह वहां के राजा जितशत्रु के पास पहुँची। राजा उस समय रनवास में था। उसने सन्यासिनी का यथायोग्य आदर-सत्कार किया और उसका उपदेश सुना। अन्त में राजा ने कहा—आप तो देश देश घूमती हैं, कहीं ऐसा अन्तःपुर आपके देखने में आया है?

सन्यासिनी बोली—राजन, आप तो कूप मण्डूक की बात चरितार्थ करते हैं।

राजा—कैसे?

सन्यासिनी—मिथिला के राजा की राजकुमारी मल्लि

नव यौवना है। उसके सामने तुम्हारा अन्त:पुर नगण्य है, उसके सौन्दर्य पर तुम्हारी रानियों का सौन्दर्य निछावर किया जा सकता है।

सन्यासिनी इतना कहकर चलती बनी। राजा ने अपना दूत बुलाया और राजदुलारी मल्लिकुमारी की मँगनी के लिए मिथिला भेज दिया। दूत मिथिला जा पहुँचा।

इस प्रकार उक्त छहों राजाओं के दूत राजा कुंभ के पास पहुँचे। सब ने अपने-अपने स्वामी की विशाल समृद्धि का सरस वर्णन करके राजकुमारी की याचना की। राजा पहले तो बड़े असमंजस में पड़ा कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय ! अन्त में उसने निश्चय कर कह दिया—'तुम लोग जाओ, हम इनमें से किसी को भी कन्या न देंगे।' दूतों को यह उत्तर देकर उन्हें दरबार से बाहर निकाल दिया। दूत अपने-अपने स्वामी के समीप पहुँचे और उन्होंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इससे छहों राजाओं की कोपाग्नि भड़क उठी। आपस में उन्होंने दूत भेजकर कुंभ राजा पर सम्मिलित आक्रमण करने का निर्णय किया। सब की सेनाएँ मिथिला की सीमा पर आकर जमा हुई।

जब यह समाचार राजा कुंभ को मिला तो वह भी सैन्य सजाकर युद्ध के लिए सामने आया। दोनों ओर

की सेनाओं में घोर युद्ध हुआ, पर कहावत है—अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। एक ओर छः राजा थे, दूसरी ओर अकेला कुंभ। अन्त में कुंभ की सेना पीछे हटने लगी और फिर नगर के भीतर घुस गई। नगर के चहुँ ओर के फाटक बंद कर दिये गये। आक्रमणकारियों ने भीतर घुसने का बहुत प्रयत्न किया पर वे सफल न हो सके। अतएव बाहर ही रह गए।

राजा कुंभ राजसिंहासन पर बैठे हुए परिस्थिति पर विचार कर रहे थे कि उसी समय राजकुमारी मल्लि उनके चरण स्पर्श करने आई। वे गंभीर विचार में तल्लीन थे अतएव अपनी प्यारी पुत्री की ओर उनका ध्यान ही न गया। मल्लिकुमारी बड़ी चतुर थीं। सारी बात ताड़ ता गईं पर बातचीत का सिलसिला चालू करने के उद्देश्य से कहने लगीं—

कुमारी—और दिन आप बड़े लाड़ प्यार से मुझे पुचकारते थे। आपका मुझ पर हार्दिक स्नेहभाव है किन्तु क्या कारण है कि आप आज मेरी ओर नजर उठाकर भी नहीं देख रहे हैं।

राजा—बेटी, तुम मेरे लिए प्राणों से अधिक प्यारी हो। तुम्हारी सुशीलता, तुम्हारी नम्रता, तुम्हारा विवेक असाधारण है। तुम्हारी जैसी कन्या पाकर मैं धन्य हो गया

हूँ। पर आज जिस विषम स्थिति में आ पड़ा हूँ, उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता। इसी चिन्ता ने मुझे घेर रखा है।

कुमारी—पिताजी, मुझ पर आपका असीम उपकार है। कृपाकर मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिए। आप चिन्ता दूर कर दें और विपत्ति के बादलों को छिन्न भिन्न कर देने का भार मुझ पर छोड़ दें।

कुम्भ बेटी, यद्यपि तुम चतुर हो, बुद्धिमती हो, पर राजनीति के दावपेंचों से तुम्हें कभी वास्ता नहीं पड़ा है। छह राजाओं की सम्मिलित शक्ति हमारे विरुद्ध है। तुम बच्ची हो, क्या कर सकोगी?

कुमारी-मैं क्या कर सकूंगी, यह तो यथा समय आपको ज्ञात हो ही जायगा। पर बच्चों की शक्ति भी तो कोई वस्तु है। बाल-सूर्य उदित होते ही अन्धकार के विशाल साम्राज्य को पल भर में छिन्नभिन्न कर देता है। मैं भी कुछ कर दिखाना चाहती हूं। यह ठीक है कि छह राजाओं ने मिलकर हम पर चढ़ाई की है, उनका बल जबर्दस्त है, पर यह भी तो स्मरण रखना होगा कि वह बल पाशविक बल है। उस बल का आधार अनीति है और अनीति का आधार बालू की दीवार के समान ढह जाने वाला होता है। नीति और धर्म का बल अजेय होता है और वह बल हमारा

सहायक है। ऐसी स्थिति में हमें भय की गुंजाइश ही कहां है? मैं पाशविक बल का मुकाबिला पाशविक बल से नहीं करना चाहती। बुद्धि बल में और न्याय नीति के आधार पर मैं इस परिस्थिति का सामना करना चाहती हूँ।

आप सोचते होंगे नादान छोकरी क्या कर सकेगी? पर मैं यह साबित कर देना चाहती हूं कि स्त्रियाँ, किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से हीन नहीं हैं, केवल उन्हें अवसर मिलना चाहिए।

राजा—बेटी, तुम क्या करना चाहती हो, जरा स्पष्ट करके कहो

कुमारी—और कुछ नहीं, आप तो उन छहों राजाओं को पुतलीवाली कोठी पर बुलवा लीजिए, आगे मैं सँभाल लूंगी।

राजा—नगर के दर्वाजे बंद करके थोड़ी देर आराम में बैठे हैं। नगर के भीतर बुलाते ही सर्वस्व मटिया मेट हो जायगा। और यह भी तो कहो कि उन्हें बुलाने से भी होगा क्या? राजा छह हैं, मन की एक ही माग है। उसकी पूर्ति होना असंभव है।

कुमारी—आप निश्चिन्त होकर बुलवाइए तो सही। सब आपका मन चाहा होगा। किसी की माँग की पूर्ति भी न करनी होगी।

राजा—कुछ समझ में ही नहीं आता ! न लोग या आने भी क्या लगे ?

कुमारी-आप सब के पास अलग अलग दूत भेजिए। सब से कहलवा दीजिए कि कन्या आपको दूंगा। इस लोभ के मारे वे अवश्य दौड़े आवेंगे।

राजा कुंभ ने सोचा—होनहार टल नहीं सकती। कुमारी की प्रतिभा अपूर्व है। अवश्य ही इसने कोई युक्ति सोच ली है। फिर भी जो होगा देखा जायगा। यह विचार कर उसने छहों राजाओं को दूत भेज कर पुतली वाली कोठी में बुलवा लिया। छहों को अलग-अलग कमरों में बिठलाया गया। बीच में कुमारी की पुतली थी। राजाओं की नजर उस पर पड़ी तो उन्होंने समझा यही कुमारी है। वे टकटकी लगा कर उसी ओर देखने लगे। इतने ही में राजदुलारी अपनी दासियों और खोजों के साथ पुतली के पास आई और पुतली का ढक्कन उतार फेंका। ढक्कन का उतारना था कि दुर्गन्ध का ज्वार सा आ गया। मारे दुर्गन्ध के राजाओं की नाक फटने लगी, दम घुटने लगा।

राजकुमारी ने उनसे पूछा—आप लोग अभी इस पुतली की ओर बड़ी चाव भरी नजर से देख रहे थे और अभी-अभी नाक भौं क्या सिकोड़न लगे ?

राजाओं ने कहा—यहाँ दुर्गन्ध के मारे प्राणों पर

आफत आ पड़ी है और तुम पूछती हो, नाक भौं क्यों सिकोड़ रहे हो!

कुमारी ने कहा—देखिए, यह सोने की पुतली है। इस में प्रतिदिन भोजन का एक कवल कौर डाला जाता था। फिर भी इसमें इतनी दुर्गन्ध है तो भला मनुष्य के शरीर का क्या पूछना? यह तो श्लेष्मा, वमन, पित्त, शुक्र, शोणित, मल मूत्र आदि गन्दे गन्दे पदार्थों से ही निर्मित हुआ है।

मैं आप लोगों से पूछना चाहती हूँ कि इस अपवित्र देह पर इतना मूर्छा भाव क्यों है। आप भूल गए, हम लोग अब से तीसरे भव में सिलावती विजय में उत्पन्न हुए थे, साथ साथ खेले कूदे थे और अन्त में साथ ही निर्ग्रंथ दीक्षा धारण की थी? हम लोग एक सी तपस्या करते थे पर थोड़े से कपटाचार के कारण मुझे स्त्रीवेद का बन्ध हुआ था। वहां से हम सब जयन्त विमान में उत्पन्न हुए। वहां से चय कर तुम सब राजा हुए हो और मैंने महाराज कुंभ की कन्या के रूप में जन्म धारण किया है।

कुमारी के इन वाक्यों का राजाओं पर तीव्र प्रभाव पड़ा। उनके परिणामों और लेश्याओं में परिवर्त्तन हुआ। शुभ परिणाम आते ही उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। मल्लि कुमारी की कही हुई बातें उन्हें स्मरण हो आई।

कुमारी ने कहा- मैं दीक्षा अंगीकार करना चाहती हूँ। तुम्हारा क्या विचार है ?

राजाओं ने कहा हम सब साथी ठहरे, जो तुम्हारा विचार वही हमारा भी है। हम लोग अब मल्लि कुमारी के बदले मुक्ति कुमारी की आराधना करेंगे।

कुमारी ने मुस्कराते हुए कहा-तो अपने अपने उत्तराधिकारियों को राज्य सौंप कर शीघ्र यहीं आना!

इधर राजा लोग अपनी-अपनी सेनाएँ वापस ले गए उधर तीर्थंकरी मल्लि ने एक वर्ष तक सुवर्ण-मोहरें दान दीं। वे प्रतिदिन एक करोड़, आठ लाख मोहरें दान देकर संसार के समक्ष दान धर्म का आदर्श उपस्थित करने लगीं। उनके पिता ने भी जगह-जगह भोजनालय स्थापित किये और कोई भी आकर वहां निश्शुल्क भोजन कर सकता था। इस प्रकार एक वर्ष तक यह सत्प्रवृत्ति चालू रहने के बाद तीर्थंकरी मल्लि कुमारी ने दीक्षा ग्रहण की। उनके दीक्षोत्सव में देवों और मनुष्यों ने खूब उत्साह के साथ भाग लिया।

मल्लि कुमारी पौष शुक्ला एकादशी के दिन तेले के तप से सहस्राम्रवन में दीक्षित हुईं। आपके साथ तीन सौ मनुष्यों और तीन सौ स्त्रियों ने दीक्षा धारण की। अन्य तीर्थंकरों की भाँति उन्हें भी दीक्षा धारण करते ही मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। थोड़े समय के पश्चात् उन्हें निर्मल

केवलज्ञान भी हो गया और उसमें उन्हें तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थ हस्तामलकवत् प्रतिभासित होने लगे। केवलज्ञान होने पर देवों ने उनका कैवल्य कल्याणक धूमधाम से मनाया। पश्चात् वहाँ रानाओं ने भी भगवान् मल्लिनाथ से दीक्षा धारण की।

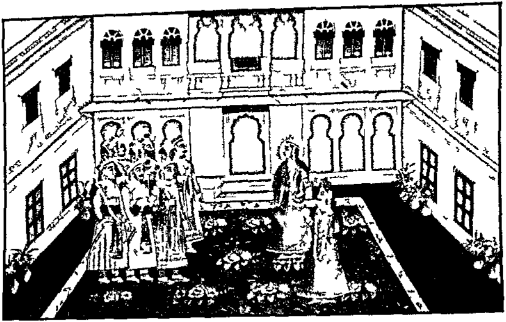
केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के अनन्तर मल्लिनाथ भगवान् ने राजा कुंभ तथा अन्य श्रोताओं को धर्मोपदेश दिया। राजा और रानी ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया।

भगवान् ने वहाँ से विहार कर नाना दिशाओं और नाना देशों में विचरण कर आत्मा का उत्कर्ष करने वाले सद्धर्म का उपदेश दिया और अनेक भव्य जीवों को मुक्ति के मंगलमय मार्ग पर आरूढ़ किया।

भगवान् ने चैत्र सुदि चतुर्थी के दिन भरणी नक्षत्र में समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त की।

उपसंहार

इस अध्याय का निष्कर्ष स्पष्ट है। भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने तपस्वी की अवस्था में थोड़ा सा कपटाचार किया था। उसका फल उन्हें भोगना ही पड़ा। कर्म किसी को छोड़ता नहीं। भव्य जीवों को चाहिए कि वे कपट को त्याग कर हृदय-पट को निर्मल बनावें।



श्रीमती मल्लि राजकुमारी स्वर्ण-मूर्ति द्वारा छ ही नरेशोंको पौद्गलिक सुखोंकी निस्सारता का प्रदर्शन करा रही है।

अध्याय नौवां

अब से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। चम्पा नगरी उस समय भारतवर्ष की एक श्रेष्ठ विभूति थी और धन, जन से समृद्ध थी। उस समय वहां कौणिक राजा राज्य करता था। वहीं माकन्दी नामक एक सार्थवाह था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। उसके जिनरक्ष और जिनपाल नामक दो पुत्र थे। वे लोग लवण समुद्र के मार्ग से ग्यारह बार द्वीपान्तरों में गये थे और उन्होंने खूब धनोपार्जन किया था। फिर भी उन्हें संतोष न हुआ और बारहवीं बार फिर समुद्रयात्रा करने का निश्चय किया। माता-पिता से वे आज्ञा मांगने गये। माता पिता ने उन्हें समझाया-'बेटा, हम पर लक्ष्मी की पर्याप्त कृपा है, किसी बात की हम लोगों को कमी नहीं है। आनन्द से रहो उपार्जित

धन का सदुपयोग और भोग करें। सारदर्शी यात्रा की यात्रा कष्टकारी होती है।'

माता-पिता के बहुत समझाने बुझाने पर भी जब वे न माने तो विवश हो उन्हें आज्ञा देनी पड़ी। जहाजों पर माल लादकर व रवाना हुए। कोसों दूर चले गए। मार्ग में उन्हें अनेक उपद्रव हुए और अकाल ही में आंधी तूफान आने लगे, बिजली चमकने लगी। उथल पुथल भी मच गई। जहाज जर्जरित हो गए। अन्त में जहाज के टूट जाने से सैकड़ों आदमी और लाखों रुपये का धन जल के अतल तल में चला गया। सौभाग्य से जिनरक्ष और जिनपाल किसी प्रकार एक पटिया का सहारा लेकर उसके आधार पर तैरते तैरते रत्नद्वीप की ओर किनारे जा लगे। किनारे पर पहुँचकर फल फूल खाकर उदराग्नि शान्त की और नारियलों का तेल निकालकर शरीर पर मालिश की।

रत्नद्वीप के मध्य भाग में एक महल था। उस महल में अनीति व क्रूर स्वभाव वाली रत्ना नामक एक देवी रहती थी। महल के चारों ओर चार बगीचे थे। संयोग की बात है। रत्नादेवी अचानक वहीं आ पहुँची जहां ये दोनों भाई बैठे शोक समुद्र में डूब रहे थे। उसने उन्हें देखा, मानो शिकारी शिकार को देखता हो। वह इनके पास आई और कहने लगी—' यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो मेरे

साथ 'व्यवहार' करो, अन्यथा तलवार के घाट उतार दिए जाओगे।' 'मरता क्या न करता' इस कहावत के अनुसार उन्होंने कहा—'आपकी आज्ञा पालन करने के लिए हम तैयार हैं।' फिर वह उन्हें महल में लाई। अनेक प्रकार के भोग भोगती हुई वह रहने लगी।

एक दिन इन्द्र महाराज ने इस देवी को लवणसमुद्र के किनारे का कूड़ा-कचरा साफ करने की आज्ञा दी। वह थोड़ी देर बाद आने को कहकर समुद्र-तट पर चली गई। जाते समय उसने कहा—तुम लोग यहीं महल में रहना। दिल उचट जाय तो पूर्व के बाग मे घूम फिर कर दिल बहला लेना। वहां श्रावण और भाद्रपद तथा आसौज और कार्तिक महीनों का मजा आएगा। वहां भांति-भांति के फूल खिले हैं, सुन्दर सुन्दर वापिकाएँ बनी हैं। वहां भी मन न लगे तो उत्तर के बाग में चले जाना। वहां अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन महीनों का आनंद आएगा। इस बगीचे में भी मनोहर रचनाएँ हैं वहां तुम्हारा मन लग जायगा। कदाचित् वहां भी मन न माने तो पश्चिम के वन में जाकर मनबहलाव करना। यदि वहां से भी जी उचट जाय तो महल में वापस लौट आना और मेरी प्रतीक्षा करना। मगर याद रखना, दक्षिण, के बाग में मत जाना। वहां एक भयंकर नाग निवास करता है। वह तुम्हें कष्ट

देगा। उधर पर भी न जाना, समझे, उधर हर्गिज न जाना।

इतना कहकर देवी रवाना हुई। दोनों भाई पूर्व, पश्चिम और उत्तर के बगीचों में घूमने लगे। उन्हें ख्याल आया जाते समय देवी ने दक्षिण के बाग में जाने की मनाई की है। इसमें कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए। चलो, देखें क्या बात है? ऐसा सोच कर वे बगीचे के पास आए। वहां आते ही दुर्गंध सी आने लगी। आगे बढ़े तो हड्डियों का एक ढेर दिखाई दिया, कुछ और आगे बढ़े तो वहां का दृश्य देखकर उनके रोंगटे खड़े हो गए। वहां एक आदमी शूली पर चढ़ा हुआ था और बुरी तरह विलाप कर रहा था। दोनों भाई उसके पास पहुँचे। उसकी इस दुर्गति का कारण पूछा तो वह बोला—भाई, मैं जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में काकन्दी नगरी का निवासी हूँ। घोड़ों का व्यापार करता हूँ। एक बार मैं जहाज से यात्रा कर रहा था। जहाज टूट गया, दुर्भाग्य से मैं एक पटिया के सहारे यहां आ पहुँचा। रत्ना देवी मुझे महल में ले आई और मुझ से मनुष्य सम्बन्धी कामभोग भोगती रही। जब तुम इसके चक्कर में फँस गए तो मेरी यह दुर्दशा की गई है। किसी और के आने पर तुम्हारी भी यही दशा होगी।

इस आदमी की हृदयभेदी बात सुन दोनों भाई अत्यन्त

भयभीत हुए। कोट तो गून नहीं! उन्होंने किसी प्रकार प्राण-रक्षा करने का विचार किया पर जब कोई उपाय न सूझा तो उसी आदमी से उपाय पूछा। उसने कहा—हाँ, एक उपाय है। पूर्व के बाग में 'शैलग' नामक एक यक्ष रहता है वह यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या के दिन ऊपर आकर जोर से चिल्लाता है– किसको तारूँ किसको पार उतारूँ–अर्थात् इस देवी के प्राणहारी पजे से फँसे हुए लोगों की मैं रक्षा करता हूँ, जो जहा जाना चाहता है उसे वहीं पहुँचा देता हूँ।" उस समय तुम भी चिल्लाना - 'हमें तारो हमें पार उतारो, हमारे प्राण बचाओ" केवल इसी उपाय से तुम्हारे प्राण बच सकते है, अन्यथा मेरे समान ही तुम लोगों को भी दुनिया से जल्दी कूच करना पड़ेगा।

दोनों ने उससे पूछा—जब आपको यह बात विदित हो गई थी तो आपने बचने का प्रयत्न क्यों नहीं किया ?

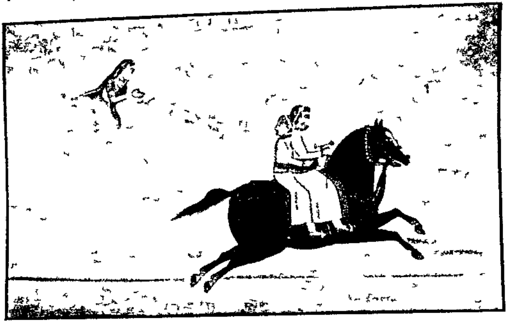
वह बोला—न पूछो भाई, होनहार जो ठहरी! मैं अभाग्य से इस देवी के मोह में फँस गया था और उस मोह का फल भुगत रहा हूँ।

यह उपाय सुनकर दोनों के जी में जी आया। वे तत्काल वहा से बाहर निकले, पूर्व के बाग में पहुँचे, वहा वापिका म स्नान आदि किया, फूल लिये और यक्ष के पास गए। उसे नमस्कार कर उसके बोलने की राह देखने लगे। कुछ

कैसा वज्र कठोर हृदय है तुम्हारा ! तुम्हें मुझ पर जरा भी दया न आई !"

देवी ने अवधिज्ञान से जाना कि मेरे इस कथन से जिनरक्ष का दिल पिघल रहा है तो उसे कुछ सान्त्वना मिली और फिर एक नया तार छेड़ा— अरे जिनरक्ष, तुम तो मुझे अतिशय वल्लभ थे। जिनपाल को तो मैं पहले ही कम चाहती थी, उसमें मुझे प्रेम न था। मेरा रोम रोम तो तुम्हारे ऊपर न्योछावर होता था, तुम्हारे लिए तो मैं अपने प्राणों को भी उत्सर्ग करने के लिए तैयार थी और हूँ, पर तुम ने मेरे प्यार को लात मार कर ठुकरा दिया है! देखो, मैं तुम्हारे प्रेम में फँस कर रो रही हूँ, चिल्ला रही हूँ और तुम्हारे वियोग में मैं जीवित भी न रह सकूंगी। निमिष भर मेरी ओर न देखे तो न सही, पर तुम्हारी निष्ठुरता का मैं कैसे सह सकूंगी ?"

जिनरक्ष का मन फिर कुछ ढीला हुआ। देवी ने भी अपने प्रयास को आगे बढ़ाते हुए सुगंधित द्रव्यों का चूर्ण बरसा दिया। चारों दिशाएँ सुगंध से महकने लगीं। फूलों की वर्षा होने लगी। तब वह फिर बोली—'हे नाथ! हे प्राणाधार! हे प्राण वल्लभ! आप इतने कठोर हृदय न बनिए। आपके चरणों की चाकरी करने वाली इस दासी पर कुछ तो दया दिखलाइए! तुम्हारे बिना मेरा संसार में



शेलक यक्ष, घोड़े का रूप धारण करके, जिनरक्ष और जिनपाल को रत्न-द्वीप से पार कर रहा है। और रत्नादेवी के प्रलोभन में फंस कर जिनरक्ष उसकी तरफ झांक रहा है।

और कौन है ? तुम्हीं मेरे जीवन हो, प्राण हो, सर्वस्व हो ! यदि आप मेरी रक्षा न करेंगे तो मैं अभी इसी खारा समुद्र में डूबकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूंगी। समझ है मुझ से कोई अपराध बन पडा हो तो भी कम से कम एक बार अपना मुँह तो दिखा दो।

अनुकूल उपसर्गों पर विजय प्राप्त करना हँसी ठट्ठा नहीं है। जिनरक्ष देवी के प्रलोभन में फँस गया। सेलग यक्ष ने अपने ज्ञान बल से उसकी मृत्यु समीप आई देखकर उसे अपनी पीठ पर से उतार दिया। यक्ष की पीठ पर से उतरते ही देवी की बन पड़ी। वह कडककर बोली- 'दुष्ट कहीं के, धोखेबाज ! बडी कठिनाई से तू मेरे हाथ आया है। तैयार होजा मृत्यु रमणी का आलिंगन करने के लिए।' यों कह कर जिनरक्ष को देवी ने आकाश में उछाल दिया और जब वह नीचे की ओर आया तो उसे तलवार की नोंक पर झेला। तलवार से उसका सारा शरीर जर्जरित हो गया और अन्त में वह प्राणों से हाथ धो बैठा।

जिनरक्ष को समाप्त करके वह फिर जिनपाल के निकट आई। उससे फिर बहुत-विनय की, नये नये हाव-भाव-विलास किये पर जिनपाल अन्त तक स्थिर रहा, वह उसके मोह पाश में न फँसा, न फँसा। तब हार मानकर देवी रत्नद्वीप लौट गई। इधर यक्ष जिनपाल को चम्पा नगरी

के उद्यान में ले आया और वहां छोड़कर वापस चला गया।

जिनपाल अकेला घर लौटा है, यह देखते ही उसके माता पिता का कलेजा धक से बैठ गया। जिनपाल ने उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया जिनरक्ष की मृत्यु से घर भर में शोक उमड़ पड़ा, पर शोक या विलाप ने आज तक किसी मृतक को नहीं लौटा पाया है।

कुछ समय के पश्चात् भगवान महावीर चम्पा नगरी में पधारे। भगवान के शुभागमन का समाचार सुन नगरी की सारी जनता उनका उपदेश सुनने को उलट पड़ी। राजा कोणिक भी उपदेश सुनने के लिए उपस्थित हुआ। भगवान् के प्रभावशाली और मंगलमय उपदेश को सुन कर जिनपाल को वैराग्य हो गया। उसने माता पिता की स्वीकृति लेकर जिनदीक्षा धारण की। घोर तपस्या और निरन्तर ज्ञानाभ्यास कर के अन्त में वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ वहां से स्थिति पूरी होने पर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर अष्ट कर्मों का समूल उन्मूलन कर वह सिद्धि प्राप्त करेगे, जो जीवन की महान् से महान् साधना है और जिसे प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

उपसंहार

प्रस्तुत कथा के द्वारा जो वस्तु प्रकट की गई है, वह

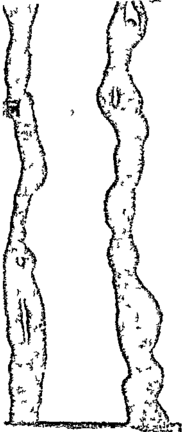
इतनी स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में अधिक उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

जिनपाल और जिनरक्ष को उनके माता पिता ने बहुतेरा समझाया कि—बेटा! अब समुद्र यात्रा न करो, पर उन्होंने एक न सुनी वे अपने हठ पर कायम रहे और उसका फल उन्हें शीघ्र ही भुगतना पड़ा। जहाज टूटा, माल डूबा, अनेक आदमी जल में डूब मरे और वे दोनों भी आयु कर्म की प्रबलता से ही बच पाये। इससे स्पष्ट है कि माता पिता आदि स्वभावतः कल्याण की अभिलाषा करने वाले गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। गुरुजनों को लौकिक आप्त कहा गया है और आप्त के वाक्यों की अवहेलना करने से अकल्याण ही होता है।

इसके बाद जिनपाल और जिनरक्ष देवी के चंगुल में फँस गए। सौभाग्य का उदय था कि उन्हें आत्मरक्षा का उपाय भी मिल गया पर जिनरक्ष विचलित हो गया। उस के विचलित होने का फल उसे तत्काल ही मिल गया। उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ा! सचमुच विषय, विष से विषम स्थिति की उत्पत्ति कर देते हैं। अनादि काल से यह आत्मा विषय वासनाओं का शिकार हो रहा है और इसी कारण उसकी स्वाभाविक सामर्थ्य आच्छादित हो गई है,

वह विकृत हो रहा है और नरक निगोद आदि की घो
वेदनाओं को भुगत रहा है। विषय वासनाएँ ही पतन
कारण हैं। इन्हीं से इहलोक और परलोक—बिगड़ते
जो महानुभाव सांसारिक वेदनाओं से बचना चाहते हैं अ
असीम एवं शाश्वत सुख को प्राप्त करना चाहते हैं उ
विषयों का संसर्ग त्यागकर आत्मा में लीन होना चाहिए
यही निवृत्ति है और इसी में एकान्त मंगल है—श्रेय है

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति



दर्शन में
मीमांसा

—मुनि नथमल